बीच बहस में



आदिवासी भारत

परिकल्पना, राजनीति, मुद्दे और चिंताएँ

- नंदिनी सुंदर
- सव्यसाची
- नरेंद्र बस्तर
- अभय खाखा
- कमल नयन चौबे

परिसंवाद : एक प्रस्तावना

कमल : मैं प्रतिमान परिसंवाद में आप सबका स्वागत करता हूँ। *प्रतिमान* के हर अंक में, या एक अंक को छोड़ कर दूसरे अंक में हम यह प्रयास करते हैं कि कोई ज्वलंत मुद्दा लें, उससे जुड़े हुए विद्वानों को बुलाएँ और उस पर गहन चर्चा करें। इसके बाद इस पूरी बातचीत का प्रतिलेखन करके उसी रूप में प्रकाशित किया जाता है। आज की बातचीत आदिवासियों के मसले से संबंधित है। आदिवासियों का भारत कैसा है, उससे जुड़ी हुई चिंताएँ और उससे जुड़े हुए मुद्दे क्या हैं ? इस बातचीत में सम्मिलित होने के लिए हमारे साथ नंदिनी सुंदर हैं जो दिल्ली विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में प्रोफ़ेसर हैं; सव्यसाची हैं जो जामिया मिलिया इस्लामिया में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर हैं; आदिवासी मामलों के जानकार नरेंद्र बस्तर हैं और अकादमिक के साथ-साथ बतौर एक्टिविस्ट भी इससे जुड़े हुए हैं; और अभय खाखा हैं जो आदिवासी समाज से आने के साथ-साथ संबंधित मसलों पर अनुसंधान और लेखन में भी संलग्न हैं। मैंने प्रतिभागियों को कुछ प्रश्न भेजे थे और उन्हीं के आस-पास हमारी बातचीत केंद्रित रहेगी। हमारी कोशिश होगी कि हर प्रश्न पर प्रत्येक प्रतिभागी पाँच से सात मिनट में अपनी बातें रखें और इस दौरान वे दूसरे प्रतिभागियों की बातों पर अपनी कुछ टिप्पणियाँ भी करें।

इक्कीसवीं सदी में आदिवासियों पर उनके दायरे से बाहर रहने वाले लोग इस तरह से नज़र डालते हैं मानो वे एक समस्या हों जिसका समाधान किया जाना है। यानी वे विकास के दायरे से बाहर हैं, 'मुख्यधारा' से बाहर हैं और उन्हें उसमें शामिल करने की ज़रूरत है। इसके अलावा दूसरा विचार यह सामने आता है कि वे ऐसे समूह हैं जिन्हें उनकी हालत पर छोड़ कर संसाधनों पर उनके अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिए। अभयजी (अभय कुमार दुबे) से अभी बात हो रही थी तो उन्होंने यह बात रखी कि आदिवासी समूह के रूप में एक ऐसे मुक़ाम पर खड़े हैं जहाँ कई रास्ते आ कर मिलते हैं। यह स्थिति आज़ादी के बाद से ही है। एक रास्ता भारतीय राज्य की ओर से आता है, एक रास्ता ईसाई मिशनरियों की ओर से आता है, एक रास्ता हिंदुत्ववादी संगठनों या वनवासी कल्याण आश्रम जैसे संगठनों की ओर से आता है, एक रास्ता माओवादियों की ओर से आता है और एक रास्ता शायद बाहर से आने वाले अकादमिकों की ओर से भी आता है। ये सारे रास्ते आदिवासियों को बताते हैं कि तुम्हारी भलाई करने के लिए क्या-क्या करने की आवश्यकता है। मैं इसी प्रस्थान बिंदु से इस बातचीत को आरम्भ करना चाहता हूँ। हम कुछ प्रश्नों के माध्यम से आगे बढ़ेंगे और समझने का प्रयास करेंगे कि आदिवासियों के सपनों का भारत कैसा है और उनकी जो स्थिति है उसे कैसे समझा जा सकता है।

I

आदिवासियत / नागरिकता / मुख्य भूमि / शृंगार भूमि

कमल : इस संदर्भ में पहला प्रश्न इस प्रकार है— हिंदुस्तान के आदिवासियों को दो भागों में बाँट कर देखा जाता है। एक तो वह क्षेत्र है जिसे तथाकथित रूप से 'मेनलैण्ड' या मुख्य-भूमि माना जाता है, और दूसरा उत्तर-पूर्व का क्षेत्र, जिसमें नगालैण्ड, मिज़ोरम, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश मुख्य रूप से आते हैं। कुछ हद तक असम में भी आदिवासी हैं लेकिन उनमें से बहुत से लोग झारखण्ड या बंगाल से गये हैं। उत्तर-पूर्व के जो राज्य हैं वहाँ आदिवासियों की कुल जनसंख्या के 8.7 प्रतिशत

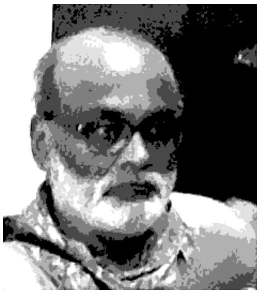


आदिवासी एक ऐसे मुक़ाम पर खड़े हैं जहाँ कई रास्ते आ कर मिलते हैं। एक रास्ता भारतीय राज्य की ओर से आता है, एक रास्ता ईसाई मिशनरियों की ओर से आता है, एक रास्ता हिंदुत्ववादी संगठनों की ओर से आता है, एक रास्ता माओवादियों की ओर से आता है और एक रास्ता शायद बाहर से आने वाले अकादमिकों की ओर से भी आता है।

लोग रहते हैं। मैं पहले प्रश्न को इस रूप में रखना चाहूँगा कि यदि भारत के सभी आदिवासियों को एक इकाई के रूप में देखा जाए तो उत्तर-पूर्व के आदिवासियों और तथाकथित 'मुख्य-भूमि' के जो आदिवासी हैं, उनके मुद्दों में हमें किस प्रकार के अवधारणात्मक अंतर देखने को मिल सकते हैं? इनके बीच क्या समानताएँ हैं और क्या असमानताएँ हैं? इसलिए जब एक पाठक या दूर से देखने वाला व्यक्ति इन पर निगाह डाले तो इन्हें किस रूप में देखे?

सव्यसाची : देखिए, बाहर वालों की नज़र में आदिवासी अभी भी पिछड़ा हुआ है और उसे मुख्यधारा में लाना आवश्यक है। कई बार बैठकों में इसकी चर्चा हुई, एंथ्रोपोलॅजिकल (मानवशास्त्रीय) साहित्य में काफ़ी चर्चा होने के बाद भी नीति तैयार करने वाले लोग यह नहीं मानते कि आदिवासियों का अपना अस्तित्व है और उन्हें इसे पूर्ण रूप से व्यक्त करने की आज़ादी होनी चाहिए। हिंदुस्तान के अंदर जितने ग़ैर-आदिवासी लोग हैं, वे भी यह नहीं मानते। फिर आपने जो विभिन्न रास्तों की बात की, जिसके बारे में अभय कुमार दुबे ने आपसे ज़िक्र किया था, उसके बारे में यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह समस्या उस वक़्त सामने आती है जब आप उस परिभाषा को स्वीकार करें जो दूसरे लोगों ने आपके लिए तय की है। मेरी समझ है कि उस परिभाषा पर एक बार फिर से सोचने की आवश्यकता है— यानी जो परिभाषा दी जाती रही है हम उसे मानते हैं या नहीं मानते हैं।

जहाँ से मैं देखता हूँ वहाँ से यह सवाल इस तरह है— एक जगह है अबूझमाड़। और बाहर वाले की दृष्टि में वह शाब्दिक अर्थ में अबूझमाड़ ही है। अबूझ होने का अर्थ है जिसके बारे में कोई जानकारी नहीं है। न तो वहाँ रहने वाले लोगों के बारे में पता है, न ही वहाँ कोई काम होता है और



वहाँ के जो रहने वाले लोग हैं, उनके लिए यह अबूझमाड़ नहीं है, बल्कि शृंगार-भूमि है। ... और इस स्थान का सौंदर्य यहाँ के झाड़-बूटी में नहीं है बल्कि इसका सौंदर्य इस बात में है कि हर कोना, हर पत्थर, हर मिट्टी के कण के ऊपर एक छोटी सी कहानी है। ... जो 'मेनस्ट्रीम' करने की जो अवधारणा है उस पर सवाल करना चाहिए कि आख़िर क्यों मुख्यधारा में होना ज़रूरी है।

न ही वहाँ से कुछ राजस्व मिलता है।

दूसरा दृष्टिकोण यह कि वहाँ के जो रहने वाले लोग हैं, उनके लिए यह अबूझमाड़ नहीं है, बल्कि शृंगार-भूमि है। शृंगार-भूमि का अर्थ है— सुंदर स्थान और इस स्थान का सौंदर्य यहाँ के झाड़-बूटी में नहीं है बल्कि इसका सौंदर्य इस बात में है कि हर कोना, हर पत्थर, हर मिट्टी के कण के ऊपर एक छोटी-सी कहानी है। अगर हम अबूझमाड़ियों के नज़रिये को समझें और सरकार से यह कहें कि देखिए इन्हें अमूझमाड़िया मत कहिए, असल में ये शृंगार-भूमि के रहने वाले हैं तो उनके सोच में यह बात नहीं पड़ेगी।

ऐसा नहीं कि वे मेरी बात नहीं सुनेंगे, ज़रूर सुनेंगे। लेकिन सुनने के बाद यह बात उनके दिमाग़ से दिल तक नहीं पहुँचेगी, दिल से हाथ तक नहीं पहुँचेगी और हाथ से पैर तक नहीं पहुँचेगी— यानी वे इसे समझ नहीं पाएँगे। शायद उन्होंने बीच में कोई फ़िल्टर लगा रखा है जिससे यह बात उनके जेहन में उतरती नहीं है। तो यह स्थिति है। और मैं कुछ ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जो यह कहते हैं कि हमारे पास यह 'च्वाइस' (विकल्प) क्यों है कि या तो हम सरकार को माने या माओवादियों को मानें। यदि हम शृंगार-भूमि को मानना चाहते हैं तो इसके लिए हमारे पास लोकतंत्र में स्थान क्यों नहीं है। अगर ऐसे तीन-चार लोग भी हैं, जो सरकार को भी नहीं मानना चाहते, माओवादियों को भी नहीं मानना चाहते और शृंगार-भूमि को मानते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो उनके पास यह आज़ादी होनी चाहिए। इस वक़्त यह आज़ादी नहीं है। इससे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि जो 'मेनस्ट्रीम' करने (मुख्यधारा से जोड़ने) की जो अवधारणा है उस पर सवाल करना चाहिए कि आख़िर क्यों मुख्यधारा में होना ज़रूरी है? इसका यह मतलब नहीं है कि आप जैसे हैं वैसे ही रहेंगे। मेनस्ट्रीम में जगह भी है लोगों को रखने के लिए, उनके कमरे में जगह है, उनकी बुनियादी संरचना में जगह है? और यदि जगह नहीं है तो बेमतलब में दरवाज़े के आगे लाइन लगा के खड़े होने का मतलब क्या है?

इसका मतलब यह नहीं है कि जो लोग जैसे हैं वैसे ही रहें। लेकिन इसके बीच की एक रेखा होनी चाहिए। यदि हम इस रेखा को स्वीकार कर लें तो यह सवाल सामने आता है कि अबूझमाड़ का जो विकल्प है उसे आज के जमाने में व्यावहारिक रूप से कैसे लाना है? शुरुआत में मैं इतना ही कहना चाहूँगा।

अभय खाखा : यदि हम आदिवासी की अवधारणा की बात करें तो कई तरह की परिभाषाएँ हैं। काफ़ी पुराने समय से इन परिभाषाओं को उपयोग में लाया जाता रहा है, लेकिन जो प्रमुख परिभाषा है वह हमें राष्ट्रीय जनजाति नीति में मिलती है। यदि हम बड़े स्तर पर देखें, ख़ास तौर पर, जब हम तथाकथित 'मेनलैण्ड' और उत्तर-पूर्व की बात कर रहे हैं, तो हमें यह याद रखने की आवश्यकता है कि बहुत-सी चीज़ें बदली हैं। इसलिए हमें पुरानी अवधारणाओं को भी परखना पड़ेगा और ज़रूरत पड़े तो उनमें बदलाव लाना पड़ेगा। एक बात तो यह है कि आदिवासी खुद को नागरिक अधिकारों



आदिवासी खुद को नागरिक अधिकारों के संदर्भ में भी परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं। ... उनका एक बड़ा हिस्सा जाति-व्यवस्था में समाहित हो गया है। ... पर उन्होंने अपनी परम्परागत व्यवस्था के कुछ मूल्यों को भी क़ायम रखा है। ... ऐसे आदिवासी समूह भी हैं जो राज्य और 'मुख्यधारा' से दूरी बना कर रखने का प्रयास कर रहे हैं। चौथा वर्ग पूरी तरह से राज्य विरोधी है।

के संदर्भ में भी परिभाषित करने का प्रयास कर रहे हैं। ये नागरिक अधिकार संविधान की विभिन्न धाराओं में सम्मिलित है, जो किसी भी अनुसूचित जनजाति के व्यक्ति को मिलने चाहिए। इसलिए नागरिक अधिकारों के तहत आदिवासियों की एक अलग परिभाषा है। दूसरा, ज़मीनी स्तर पर भी काफ़ी बदलाव हो रहे हैं।

हम जानते हैं कि दोनों ही भूभागों में (उत्तर-पूर्व और 'मुख्य-भूमि' में) आदिवासियों का एक बड़ा हिस्सा जाति-व्यवस्था में समाहित हो गया है। चाहे हम राजस्थान की बात करें, या गुजरात या मध्य भारत की, अधिकांश स्थानों पर ये काफ़ी हद तक जाति-व्यवस्था में सम्मिलित हो गये हैं। एक दूसरा वर्ग भी है, मसलन झारखण्ड का सरना। इस वर्ग के आदिवासियों ने कुछ मूल्य वर्ण व्यवस्था और जाति-व्यवस्था से ग्रहण किया है और साथ ही इन्होंने अपनी परम्परागत व्यवस्था के कुछ मूल्यों को भी क़ायम रखा है। हालाँकि इन्हें कई तरह की चुनौतियों का भी सामना करना पड़ रहा है। तीसरे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह हैं जो राज्य और 'मुख्यधारा' से दूरी बनाकर अपना अस्तित्व क़ायम रखने का प्रयास कर रहे हैं। और चौथा वर्ग पूरी तरह से राज्य विरोधी है। इस तरह, चाहे वह उत्तर-पूर्व की बात हो या तथाकथित 'मेनलैण्ड' की। दोनों स्थानों पर ऐसे वर्गों का अस्तित्व है।

मैं पूरे आदिवासी समुदाय को इन चार वर्गों में बाँटकर देखता हूँ। मुझे लगता है कि यदि हम इस तरह से आदिवासी व्यवस्था को देखने-समझने की कोशिश करें तो ज़्यादा सहूलियत होगी। लेकिन इसके साथ ही एक बड़ी चीज़ उभरकर सामने आ रही है, वह है आदिवासियत की अवधारणा। इसका अर्थ यह है कि आदिवासी व्यवस्था सिर्फ़ परम्परा या कुल या गोत्र पर आधारित व्यवस्था के रूप में ही नहीं है, बल्कि यह एक मूल्य के रूप में भी उभरकर सामने आ रहा है। आदिवासियत को एक मूल्य-व्यवस्था के रूप में, आदिवासियों के आस-पास रहने वाले ग़ैर-आदिवासी भी अपनाने का प्रयास कर रहे हैं, और इसका काफ़ी कुछ उदाहरण हमें झारखण्ड में देखने को मिल सकता है। यदि हम आदिवासियत की मूल्य-व्यवस्था को नज़दीक से देखें तो इसमें जल, जंगल, ज़मीन से जुड़ी बातें सम्मिलित हैं। इसके साथ ही साथ इसमें प्राकृतिक व्यवस्था पर वापस जाने की भी बात की जाती है। हम यह देखेंगे कि काफ़ी सारे 'नॉन एसटी' (ग़ैर-अनुसूचित जनजाति) लोग भी इस मूल्य-व्यवस्था को अपना रहे हैं। इसलिए जब हम आदिवासी की अवधारणा पर विचार कर रहे हैं तो हमें एक मूल्य-व्यवस्था के रूप में आदिवासियत पर भी सोचना पड़ेगा।

नरेंद्र बस्तर : मेरा बहुत सीमित-सा अनुभव रहा है। मैं बस्तर से जुड़ा कुछ समय के लिए, कुछ समय वहाँ रहा, कई बार लगातार भी रहा, फिर निकल आता था, फिर चला जाता था। लेकिन आदिवासी है या बस्तर है, उसका संदर्भ-बिंदु क्या है? जो परिभाषा दी गयी है उसे ही रिफ़रेंट या संदर्भ-बिंदु माना जा सकता है, लेकिन वह बहुत विकृत है, अंग्रेज़ों द्वारा बनाई गयी है और इसमें सिर्फ़ 'एथ्निसिटी' या जातीयता पर ज़ोर दिया गया है। यह परिभाषा जातीयता के अलावा और किसी चीज़ पर ज़ोर नहीं देती तथा आदिवासी जातीयता को मानता भी नहीं है, जानता भी नहीं है। मैं जब संदर्भ-बिंदु की बात

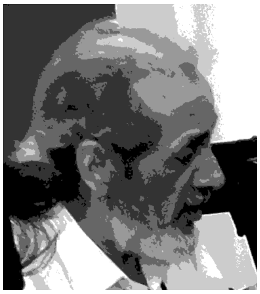
कर रहा हूँ तो मैं अबूझमाड़ की बात कर रहा हूँ जिसका ज़िक्र अभी सव्यसाची ने किया। एक ऐसा 'मिरर' (आईना) तो हो, जहाँ से यह दिखे कि आदिवासी कौन होता है। हम सब बिना किसी आईने के ही आदिवासी को देख रहे हैं। जैसा बता दिया गया, उसे हमने मान लिया और उसी को आगे बढ़ा दिया। और सब चीज़ें बद से बदतर होती चली गयीं। यहाँ मैं विशेष रूप से बस्तर की बात कर रहा हूँ क्योंकि मैं अबूझमाड़ में रहा हूँ। आप मूल्यों की बात कर रहे थे, अवधारणाओं की बात कर रहे थे— ये शब्द बिल्कुल नये हैं। अबूझमाड़ की भाषा ही तीन सौ-चार सौ शब्दों की है।

भाषा से यहाँ मेरा मतलब 'बोली' से है, भाषा तो अपने-आप में एक अलग हथियार है। बोली के प्रति मेरी सहानुभूति रहती है। मैंने कभी गिनी नहीं, लेकिन मेरा मोटा-मोटा अनुमान है कि उनकी बोली में तीन सौ-चार सौ के बीच ही शब्द हैं। मुझसे कई लोग पूछते हैं कि आप बस्तर में इतने समय तक जुड़े रहे, वहाँ आपने क्या किया तो मेरे पास कोई जवाब नहीं होता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि न तो मैं एकेडेमिक हूँ और न ही एक्टिविस्ट हूँ। मैं सिर्फ़ वहाँ रहा, लोगों से जुड़ा, वापस आया, फिर चला गया। कभी कई साल रह लिया, और कई साल-दो साल के लिए वहाँ से ग़ायब हो गया। तो वहाँ रहने के दौरान जो देखने-सुनने में आया, मैं सिर्फ़ उसी की बात कर सकता हूँ। मेरे पास साझा करने के लिए सिर्फ़ अनुभव है, कुछ और नहीं। और मैं इससे आगे जाना भी नहीं चाहता क्योंकि मैं इस बात से वाक़िफ़ हूँ कि इससे जुड़े कई तरह के जालों में फँसने की गुंजाइश रहती है, जो मुझे फँसा लेंगे और मेरी बोली बदल देंगे— उस अबूझमड़िया को बदल देंगे जिसके बारे में मैं बात करना चाहता हूँ।

अभी अभय (खाखा) आदिवासियत की बात कर रहे थे। मुझे याद है कि शायद 2009 में बस्तर में छत्तीसगढ़ की राज्य सरकार ने एक 25 हज़ार करोड़ रुपये की योजना निकाली। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य और 'स्किल डिवेलपमेंट', सड़कों और ऐसे ही अन्य तामझाम के लिए बजट तय किया गया था। लेकिन इस पूरी योजना में जिसे आप आदिवासियत कह रहे हैं, उसकी एक भी बात नहीं थी। ऐसी योजना पहली बार नहीं बनी, केंद्र सरकार भी ऐसी ही योजना बनाती रही है, प्रांतीय सरकार द्वारा इसी प्रकार की योजना पर ध्यान केंद्रित किया जाता रहा है और ज़िला प्रशासन का ज़ोर भी ऐसे ही कार्यक्रमों को लागू करने पर रहता है। मैं यहाँ सिर्फ़ सरकार की बात नहीं कर रहा हूँ। सरकार तो मेरी नज़र में बहुत गौण चीज़ है।

मैं यह कह रहा हूँ कि किसी भी ऐसी योजना या किसी भी ऐसे अध्ययन या रपट में, जिसमें आदिवासियत मौजूद नहीं है, उसे मैं सिर्फ़ 'मेनस्ट्रीमिंग' ('मुख्यधारा' में जोड़ने) के प्रयास के रूप में देखता हूँ। अपने-अपने तरीक़े से सभी 'मेनस्ट्रीमिंग' करना चाहते हैं— चाहे वे सरकार हो, मीडिया हो, ऐकेडेमिया हो, माओवादी हों, गाँधीवादी हों, वहाँ काम करने वाले रामकृष्ण मिशन वाले हों, कंठी वाले बाबा हों— या वहाँ बाहर से आने वाला कोई और शख़्स या संस्था हो— ये सभी के सभी आदिवासियों की 'मेनस्ट्रीमिंग' करना चाहते हैं। असल में, यह बहुत ही ख़तरनाक स्थिति है। मैं यह बात बहुत ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि बस्तर के जीवन और लय की एक रफ़्तार है जिससे आदिवासियत प्रभावित होती है, उसका जितना नुक़सान पिछले कुछ वर्षों में माओवादियों ने कर दिया, उतनी पूरी सरकार नहीं कर पाई क्योंकि पूरी सरकार कभी पहुँची ही नहीं वहाँ। जितना नुक़सान, बाहरी समाज ने कर दिया, उतना नुक़सान सरकार नहीं कर पायी। इसका मतलब यह नहीं है कि सरकार के इरादे अच्छे थे। ईश्वर का शुक्र है कि यह सरकार आलसी थी, भ्रष्ट थी, अपने वायदों को पूरा करने के लिए तैयार नहीं थी। भ्रष्टाचार इतना रहा है कि गाँव में सड़क के लिए भेजा जाने वाला पैसा वहाँ पहुँच ही नहीं सका।

असल में, चाहे सड़क बनाने का पैसा हो, स्कूल बनाने का पैसा हो, अस्पताल खोलने का पैसा हो— ये चीज़ें अकेली नहीं जाती हैं बल्कि ये राज्य के पूरे तामझाम को लेकर जाती हैं। गाँव में एक



बस्तर के जीवन और लय की एक रफ़्तार है जिससे आदिवासियत प्रभावित होती है— उसका जितना नुक़सान पिछले कुछ वर्षों में माओवादियों ने कर दिया, उतना पूरी सरकार नहीं कर पाई ...। जितना नुक़सान, बाहरी समाज ने कर दिया, उतना नुक़सान सरकार नहीं कर पायी। ... शुक्र है कि यह सरकार आलसी थी, भ्रष्ट थी, अपने वायदों को पूरा करने के लिए तैयार नहीं थी।

हैण्डपम्प अकेला खड़ा नहीं होता है बल्कि यह राज्य की सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। गाँव का लोहार उस हैण्ड पम्प को ठीक नहीं करता है। वह हिचकता है कि यदि ठीक करते-करते ख़राब हो गया तो मेरी खिंचाई हो जाएगी। इसलिए राज्य हमेशा अपने तामझाम के साथ आदिवासी इलाक़ों में जाता है। लेकिन मैं मानता हूँ कि एक रेफ़रेंट (संदर्भ-बिंदु) का होना आवश्यक है। असल में, मैं बाहर जो देखता था, सुनता था, पढ़ता था और जो अबूझमाड़ में देखता था, उनके बीच इतना ज़्यादा अंतर था कि मेरे मन में हमेशा ही एक सवाल उठता रहता था। मैंने यही सवाल अबूझमाड़ के एक आदिवासी बुजुर्ग से पूछा था दादा यह बताइए कि कौन होता है आदिवासी? उन्होंने जो जवाब दिया, उसे मैं अपनी भाषा में कह रहा हूँ। उन्होंने कहा कि जिसे 'लैण्डस्केप' (भूदृश्य) से स्नेह हो, प्यार हो, वही है आदिवासी, तुम भी आदिवासी हो। इसलिए हमें इस संदर्भ-बिंदु को देखना पड़ेगा कि आदिवासी से हमारा क्या तात्पर्य है। मैं बस्तर में ऐसे लोगों को जानता हूँ जो कहने को आदिवासी हैं, दाल मिल, चावल मिल आदि चला रहे हैं और उनके बेटे न्यूजीलैण्ड में पढ़ रहे हैं। तो उनके लिए तो आदिवासी फ़िक़रा हो गया न! इसलिए एक सामान्यीकृत शब्द बनाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि हमें इस पर ज़्यादा स्पष्ट होने की आवश्यकता है कि आदिवासी का वास्तविक अर्थ क्या है। फ़िलहाल के लिए इतना ही।

नंदिनी सुंदर : धन्यवाद कमल! इस परिसंवाद को आयोजित करने के लिए। आपने यह सवाल किया कि 'मेनलैण्ड' भारत और उत्तर-पूर्व के भारत में क्या फ़र्क़ है, और उसके साथ क्या मुद्दे अलग हैं और क्या एक समान है और इस संदर्भ में 'मेनस्ट्रीम' या मुख्यधारा के मसले को कैसे समझ सकते हैं। मुख्यधारा को पारम्परिक रूप से आर्थिक पूँजीवादी व्यवस्था से जोड़कर परिभाषित किया जाता है। मुझे लगता है कि जब हम भारतीय दृष्टिकोण से देखते हैं तो ऐसे नहीं देखना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग लोगों की अपनी मुख्यधारा है। भारत में कभी भी एक सुनिश्चित मुख्यधारा नहीं थी जिसके अनुसार ही काम किया जाना ज़रूरी था। ऐसा कभी नहीं था कि उसी की भाषा में बात होनी चाहिए, या यही धर्म हो सकता है। अभी जो पूरे देश के ऊपर थोपा जा रहा है कि एक भाषा, एक संस्कृति, एक क़ौम— वह पूरी तरह से भारत के इतिहास और परम्परा के ख़िलाफ़ है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि जो अलग-अलग प्रांत हैं उनमें अपने अलग-अलग मुद्दे हैं, लेकिन कुछ मुद्दे ऐसे भी हैं जो समान हैं। हम दो-तीन ऐसे मुद्दों पर विचार करते हैं जो उत्तर-पूर्व और 'मेनलैण्ड' भारत में एक जैसे हैं।

पहली बात तो यह है कि दोनों ही स्थानों पर लोग प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं, और इन दोनों ही स्थानों पर क़ीमती प्राकृतिक संसाधन हैं। उत्तर-पूर्व भारत और 'मेनलैण्ड'— दोनों ही जगहों पर खनन और संसाधनों के दोहन की समस्या बहुत बड़ी है। सरकार और पूँजीवादी— दोनों ही इन संसाधनों को छीनना चाहते हैं। उत्तर-पूर्व में कई स्थानों पर बाँध बन रहे हैं। मेघालय में यूरेनियम का खनन हो रहा है। अब तक लोग यह सोचते आ रहे थे कि उत्तर-पूर्व उस तरह से उद्योगीकृत समाज



मैं बस्तर जाने पर रेडियो पर फ़रमाइशी गाने का जो कार्यक्रम होता है, उसे सुनती हूँ तो मुझे जगदलपुर या दाँतेवाड़ा से फ़रमाइश भेजने वाले लोगों में से एक भी आदिवासी नाम नहीं मिलता। सारे के सारे नाम ग़ैर-आदिवासियों के होते हैं। बाहरी लोग स्थानीय बाशिंदे बन गये हैं और आदिवासी ग़ैर-नागरिक बन गये हैं। मुझे यह लगता है कि यह 'मुख्यभूमि' (मेनलैण्ड) की समस्या है, जो उत्तर-पूर्व से अलग है।

नहीं है, किंतु जिस तरह 'मुख्यभूमि' भारत के क्षेत्रों, मसलन झारखण्ड और बस्तर, में जिस तरह प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर ज़ोर दिया जा रहा है वैसे ही उत्तर-पूर्व में भी हो रहा है।

दूसरा, अब सैन्यीकरण की बात कर सकते हैं। इसकी शुरुआत उत्तर-पूर्व के राज्यों और कश्मीर में हुई और अब यह है कि यह 'मुख्य-भूमि' भारत पर भी छा गया है। तो हर प्रांत एक-दूसरे के बुरे व्यवहारों को ग्रहण करता है। जिस तरह बस्तर में सलवा जुडूम के रूप में विजलांतिज़म या निगरानीवाद शुरू हुआ, और उसके पहले यह झारखण्ड में भी सेण्ड्रा के रूप में हुआ था— अब यह पूरे देश में फैल गया है। हर जगह गोरक्षक क़ानून को अपने हाथों में ले रहे हैं, और उन्हें पुलिस का भी पूरा समर्थन प्राप्त है। तो मुझे लगता है कि हम जब 'मुख्य-भूमि' की बात करते हैं, 'मुख्यधारा' की बात करते हैं या उत्तर-पूर्व की बात करते हैं, तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि विभिन्न क्षेत्र पूरी तरह से एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। और हमें यह भी देखना चाहिए कि पूँजीवादी व्यवस्था, राज्य और सैन्यीकरण का जो अलग-अलग रूप है, वह विभिन्न प्रांतों में किस तरह सामने आ रहा है।

मेरा मानना है कि प्रक्रिया एक जैसी है किंतु उसकी अभिव्यक्ति अलग-अलग हो सकती है। तीसरी बात यह है कि आज मैं भाजपा के नेता सुधांशु मित्तल की बात टीवी पर सुन रही थी। वे असम की बात कर रहे थे। उनका कहना था कि हम बांग्लादेशी घुसपैठियों को अपने देश के जनसांख्यिक स्वरूप और यहाँ की राजनीति नहीं बदलने देंगे। तो सवाल यह है कि क्या बाहरी लोगों के जाने से आदिवासी क्षेत्रों के जानसांख्यिक स्वरूप में तब्दीली नहीं आयी है। लेकिन इसके बारे में आपने कभी चिंता व्यक्त नहीं की। मसलन, झारखण्ड में 1900 में 50 प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या थी, अभी यह 27 प्रतिशत रह गयी है। बस्तर में 80 प्रतिशत आदिवासी जनसंख्या थी, लेकिन अब जगदलपुर की तो सीट ही अनारक्षित हो गयी है। दाँतेवाड़ा में भी आदिवासियों की जनसंख्या के अनुपात में कमी आयी है, यानी यह घट कर 60 से 70 प्रतिशत के बीच रह गयी है।

एक तरह से सारे आदिवासी इलाक़ों में ग़ैर-आदिवासियों की संख्या बढ़ रही है। अब जैसे मैं बस्तर जाने पर रेडियो पर फ़रमाइशी गाने का जो कार्यक्रम होता है, उसे सुनती हूँ तो मुझे जगदलपुर या दाँतेवाड़ा से फ़रमाइश भेजने वाले लोगों में से एक भी आदिवासी नाम नहीं मिलता। सारे के सारे नाम ग़ैर-आदिवासियों के होते हैं। बाहरी लोग स्थानीय बाशिंदे बन गये हैं और आदिवासी ग़ैर-नागरिक बन गये हैं। मुझे यह लगता है कि यह 'मुख्य-भूमि' (मेनलैण्ड) की समस्या है, जो उत्तर-पूर्व से अलग है। उत्तर-पूर्व में अनुसूचित जनजाति की पहचान ज़्यादा मजबूत है और लोग खुद को राष्ट्रीयता के रूप में देखते हैं। लेकिन देश के अन्य भागों में आदिवासी खुद को इस रूप में नहीं देख पा रहे हैं। तो इन दोनों में मुझे यह फ़र्क़ दिखता है।

II
प्रतिनिधित्व / आदिवासी / ग़ैर-आदिवासी

कमल : अभी तक की बातचीत में इस पहलू पर बल दिया गया कि आदिवासियों को आदिवासियत के साथ ही साथ नागरिक अधिकारों के दायरे में भी परिभाषित किया जा सकता है। और यहीं से मेरा दूसरा सवाल सामने आता है जो प्रतिनिधित्व से जुड़ा है। मैं इसे कई स्तरों पर रखना चाहता हूँ। एक तो यह कि अलग-अलग तरह की श्रेणियाँ बनाई गयी हैं। मसलन संविधान द्वारा ही अनुसूचित जनजाति की श्रेणी बनाई गयी है। इस तरह जब अलग-अलग समय पर क़ानून बने तो उसमें भी नयी श्रेणियाँ जुड़ीं। मसलन, 2006 में जब वन अधिकार क़ानून बना तो उसमें अनुसूचित जनजाति के साथ ही साथ 'अन्य पारम्परिक वन निवासी' की नवीन श्रेणी जोड़ी गयी। इसी तरह, जब 1996 में पेसा क़ानून बना तो उसमें यह व्यवस्था की गयी कि पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत आने वाले गाँवों में किस तरह की व्यवस्था होगी। इसी तरह, जब 1972 में वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम बना तो उसमें कुछ नयी तरह की श्रेणियाँ जोड़ी गयीं। इसमें यह बताया गया कि कोई नैशनल पार्क में रहता है तो उसके किस प्रकार के अधिकार हैं, और उन्हें क्या करने का अधिकार नहीं है। मेरा सवाल यह है कि क्या आप लोगों को यह लगता है कि संविधान द्वारा या विभिन्न क़ानूनों द्वारा अलग-अलग तरह की जो श्रेणियाँ बनी हैं, वे आदिवासियों को अधिकार देती हैं, या फिर बहुत से आदिवासी समूह जो अनुसूचित जनजाति के भाग नहीं हैं, वे इसमें अलग-थलग पड़ जाते हैं। और अलग-थलग पड़ने की प्रक्रिया गहरी हो जाती है। मसलन, अगर कोई समूह अनुसूचित जनजाति का हिस्सा नहीं था, तो उसे अनुसूचित जनजातियों को मिलने वाले लाभ से तो वंचित रहना ही पड़ता था, किंतु बाद में बने वन अधिकार क़ानून में उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एक ही स्थान पर तीन पीढ़ियों और 75 वर्षों से रहना साबित करे। इसी तरह, यदि कोई आदिवासी समूह अनुसूचित जनजाति का हिस्सा नहीं है, तो पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत आने वाली पंचायतों में उसके अधिकार काफ़ी कम हो जाते हैं। इस अर्थ में जो संवैधानिक-क़ानूनी व्यवस्था है और उसमें बनी जो श्रेणियाँ हैं, वे आदिवासियों को प्रतिनिधित्व दे पा रही हैं, या उसमें जो सीमाएँ हैं उससे आगे जाने की आवश्यकता है? और यदि ऐसा करने की ज़रूरत है तो वह किस प्रकार हो सकता है?

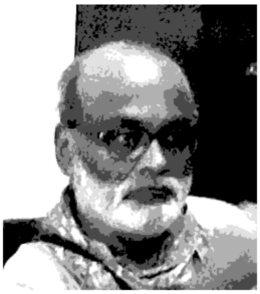
इस प्रश्न का दूसरा स्तर संसदीय राजनीति की संस्थाओं से जुड़ा हुआ है— ख़ासतौर पर लोकसभा और विधानसभा के संदर्भ में। लोकसभा में कुल 41 सीटें अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित हैं। और एक प्रवृत्ति है कि अनुसूचित जनजाति के मंत्रालय को छोड़ कर किसी भी प्रमुख मंत्रालय में अमूमन आदिवासियों को मंत्री पद नहीं दिया जाता है। यदि पी.ए. संगमा के उदाहरण को छोड़ दें, तो कभी यह सुनने में नहीं आता है कि कोई आदिवासी नेता गृह मंत्री बना, वित्त मंत्री बना या उद्योग मंत्री बना। और जिन राज्यों का गठन यह सोच कर किया गया कि वे मुख्य रूप से आदिवासी राज्य होंगे, जैसे छत्तीसगढ़ या झारखण्ड, वहाँ की राजनीति पर भी ग़ैर-आदिवासी ही हावी हैं। इसलिए इस सवाल के दूसरे स्तर को मैं इसी रूप में रखूँगा कि क्या संसदीय राजनीति वास्तव में आदिवासियों को प्रतिनिधित्व दे पा रही है, और यदि वह नहीं दे पा रही है तो क्या इससे आगे बढ़ने का कोई और रास्ता आदिवासियों के सामने हो सकता है, और यदि कोई रास्ता है तो वह क्या है?

सव्यसाची : देखिए मेरा यह कहना है, और इसके पक्ष में मैं उदाहरण भी दूँगा कि पहले दौर में हमने जो बातें कहीं उस पर और ज़्यादा गम्भीरता से विचार करना होगा। और इसके लिए हमें संसदीय आयाम पर बातचीत का मोह छोड़ना होगा। इससे तो कोई इंकार नहीं है कि हम संविधान की ओर

रहें। लेकिन अपनी गोष्ठियों के अंदर बात को समझने के लिए क्या उस दृष्टिकोण को रखना ज़रूरी है? इस पर मुझे थोड़ी-सी असहमति है। असल में, यदि हम पाँचवीं और छठी अनुसूची बनने का इतिहास देखें तो हमें इसके पीछे काम करने वाली नीयत पर भी ध्यान देना होगा। जब अंग्रेज़ों ने इसे बनाया तो उनकी नीयत यह थी कि जो विद्रोह करने वाले आदिवासी हैं उनके विद्रोह को शांत किया जाए। इसका लक्ष्य यह नहीं था कि आदिवासियों को अपने विचार रखने की आज़ादी दी जाए, बल्कि मुख्य मक़सद यह था कि यदि आदिवासी झगड़ा करते हैं, मुश्किलें पैदा करते हैं, उलूल-जुलूल हरकतें करते हैं, तो उन्हें इस तरह का प्रावधान बनाकर शांत किया जाए।

यह माना गया कि ये आदिवासी हैं और इन्हें विकास वग़ैरह की बात समझ में आती नहीं है। इन्हें थोड़ा परे कर दिया जाए। और, यह नीयत अभी भी बदली नहीं है। तो, अगर आप नीयत को नहीं समझेंगे तो यह कहते रहेंगे कि संसदीय प्रणाली के भीतर या संविधान के प्रावधानों को ध्यान में रख कर बात की जानी चाहिए। और यदि हम मानते हैं कि नीयत सही नहीं थी और नीयत सही नहीं है, तो फिर हमें इस बात पर विचार करना होगा कि ये जो संविधान है, जो पाँचवीं और छठी अनुसूची है, जो वन अधिकार क़ानून है वह किसलिए बना है। सरकार को आठ प्रतिशत से ज़्यादा सफलता की दरकार नहीं है, तो यदि आठ प्रतिशत सफलता मिल रही है, तो यह उनके लिए शांति की बात है। आप यह देखिए कि इसने किस प्रकार की प्रक्रिया शुरू की। जब 2006 में वन अधिकार क़ानून बना, तो क्या हुआ— हर ग़ैर-सरकारी संगठन, हर जन आंदोलन, हर सुधार आंदोलन और संगठन उस नियम को समझाने में लग गये। पूरे हिंदुस्तान के भीतर इस नियम को समझाने के लिए अभियान चलने लगे। इन संगठनों के लोगों ने कहा कि क़ानून के लागू होने के लिए यह ज़रूरी है कि लोग इसे समझें। इसका असर क्या हुआ? जंगल का आदमी जिस भाषा में जंगल को जानता था, वह पूरी तरह से बदल गयी। उस आदमी की शब्दावली अब अपने अनुभव या संस्कृति से नहीं आती, बल्कि इस नियम से आती है। यह बहुत बड़ा नुक़सान है। एक तो स्कूल में उनकी भाषा नहीं पढ़ाई जाती है, अब सरकार ने एक नया तरीक़ा निकाल लिया है, क़ानून बनाए जाते हैं और उसका प्रोपेगण्डा किया जाता है, इसमें नये तरह की शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। जब आदिवासी का सामना इससे होता है, तो उसका अपना अनुभव हल्का पड़ जाता है और यह शब्दावली हावी हो जाती है। फिर उसके पास बचा क्या? आदिवासी उसी भाषा में बात करेंगे जो उन्हें सरकार ने दी है। आपका सवाल भी ऐसा है, जो भाषा सरकार ने दी है, आप उसी भाषा में सवाल कर रहे हैं। तो इससे विमर्श आगे बढ़ने वाला नहीं है। वन अधिकार क़ानून कभी भी पूरी तरह से लागू नहीं होगा, भले ही आप झगड़ते रहिए, लाइन में लगे रहिए। जो स्थिति है वही रहेगी।

दूसरा सवाल है आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी के विभाजन का है। मुझे लगता है कि इस पर थोड़ी गहराई से सोचने की ज़रूरत है। मैं कई ग़ैर-आदिवासियों को देखता हूँ जिन्होंने आदिवासियों की अनुभूति को समझने के लिए, उनके हक़ के लिए लड़ने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है; और मैं कई आदिवासियों को जानता हूँ जो अपने साथ रहने वाले अपने आदिवासी भाइयों को नीचा दिखाते हैं। इस पर विचार करने की ज़रूरत है कि इस प्रकार का विभाजन किसी अच्छे विकल्प को बनाने के लिए ठीक है या नहीं। मुझे लगता है कि हमें यह विभाजन हटाना पड़ेगा। तीसरी बात यह है कि आदिवासियत किसको कहेंगे? आदिवासियत का हमारा संदर्भ बिंदु क्या है? आपके पास जल, जंगल और ज़मीन की शब्दावली आयी कहाँ से? यदि आप आदिवासी को जंगलवासी मानें, और स्वीकार करें कि अंग्रेज़ों के आने के बाद से उनकी वहाँ से बेदख़ली हुई है, तो जंगल की अवधारणा तथा जंगल की सभ्यता एक संदर्भ-बिंदु हो सकती है। असल में, जल, जंगल, ज़मीन तो उनकी विश्व-दृष्टि का अत्यंत छोटा हिस्सा है। 'ज़मीन' की अवधारणा तो उनके यहाँ है ही नहीं। ज़मीन को तो वह माटी मानते हैं। 2006 के वन अधिकार क़ानून के अंतर्गत सबसे बड़ी तिकड़म यह



मैं कई ग़ैर-आदिवासियों को देखता हूँ जिन्होंने आदिवासियों की अनुभूति को समझने के लिए, उनके हक़ के लिए लड़ने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है; और मैं कई आदिवासियों को जानता हूँ जो अपने साथ रहने वाले अपने आदिवासी भाइयों को नीचा दिखाते हैं। इस पर विचार करने की ज़रूरत है कि इस प्रकार का विभाजन किसी अच्छे विकल्प को बनाने के लिए ठीक है या नहीं।

है कि जंगल को 'फ़ॉरेस्ट लैण्ड' (वन-भूमि) कह दिया गया है। वह जंगल नहीं रहा, उसे ज़मीन के एक टुकड़े में तब्दील कर दिया गया। विकल्प की अवधारणाएँ इस शब्दावली में नहीं हो सकती हैं। इसके लिए कोई और शब्दावली खोजनी होगी। उसे कैसे खोजेंगे इसकी चर्चा तीसरे दौर में करेंगे।

अभय खाखा : आदिवासी प्रतिनिधित्व की यदि हम बात करें तो जनजाति मंत्रालय के आँकड़ों के हिसाब से देश में कुल 705 विभिन्न प्रकार के आदिवासी समुदाय हैं। कुछ बहुत छोटे हैं और कुछ बहुत ज़्यादा बड़े हैं। चार बड़े प्रमुख आदिवासी भील, गोंड, संथाल और मीणा— ये ही आदिवासियों की कुल जनसंख्या का 60 प्रतिशत हो जाते हैं। तो सवाल यह उठता है कि बाक़ी के 701 समुदायों का प्रतिनिधित्व कहाँ है, उनकी आवाज़ कहाँ जाती है? मसलन, मुख्य रूप से छत्तीसगढ़ में पाया जाने वाला बैगा समुदाय इतना छोटा है कि वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है कि भारतीय संसदीय व्यवस्था में उसका कोई प्रतिनिधि होगा या उसकी आवाज़ पहुँच सकती है। या फिर हम झारखण्ड के असुर समुदाय की बात करें, पगड़िया समुदाय की बात करें, तो ये भी जनंसख्या के लिहाज़ से इतने छोटे हैं कि इनकी आवाज़ संसदीय व्यवस्था में आगे आने की सम्भावना तक़रीबन नहीं है। ये समुदाय छोटे-छोटे गणराज्यों के रूप में रहे हैं, जिसे शायद लोकतंत्र कहना ठीक नहीं होगा, बहुत से लोग इसे अंग्रेज़ी 'इण्डिजेनोक्रेसी' (मूल-निवासीतंत्र) की संज्ञा देते हैं। यानी यह अलग क़िस्म की आदिवासी तंत्र की व्यवस्था थी। वर्तमान व्यवस्था में आदिवासियों की आवाज़, और ख़ास तौर पर आदिवासियों में जो वंचित तबक़े हैं उनकी आवाज़ आ पाना नामुमकिन है।

बड़े आदिवासी समूह ही अपने मुद्दों को आगे बढ़ाते रहे हैं और आदिवासियों में जो छोटे समूह हैं वे अलग-थलग पड़ गये हैं। आप देखेंगे कि बहुत से छोटे आदिवासी समूहों के भीतर इस मसले को लेकर काफ़ी आक्रोश है क्योंकि इस व्यवस्था में उनके लिए अपनी आवाज़ रख पाना अत्यंत मुश्किल है। दूसरी बात यह है कि यदि हम 1961 के आदिवासी आयुक्त की रिपोर्ट देखें, तो उसमें यह कहा गया था कि अब पाँचवीं अनुसूची में एक-तिहाई आदिवासी ही रह गये हैं, और दो-तिहाई आदिवासी अब पाँचवीं अनुसूची से बाहर हैं। तो उनके अधिकारों की बात आप कैसे करेंगे, उनका कैसे प्रतिनिधित्व होगा? उस समय काफ़ी दबाव था कि पाँचवीं अनुसूची के क्षेत्र का विस्तार किया जाए, लेकिन कई अलग-अलग शक्तिशाली वर्गों का दबाव था कि अनुसूचित क्षेत्र को नहीं बढ़ाया जा सकता है। इसी कारण से 'सब-प्लान क्षेत्र' की अवधारणा लाई गयी। इस तरह, 1960 के दशक में ही आदिवासियों का बड़ा क्षेत्र— दो तिहाई क्षेत्र पाँचवीं अनुसूची के अंतर्गत मिलने वाले संरक्षण से वंचित हो गया था। दूसरा, अब यह भी देख सकते हैं कि 1960 के दशक से ही हर दशक में होने वाली जनगणना के साथ नये-नये समूहों को आदिवासी (अनुसूचित जनजाति) का दर्जा दिया जा रहा है। महाराष्ट्र, आंध्र, कर्नाटक और तमिलनाडु जैसे राज्यों में नये-नये समूहों को आदिवासी की श्रेणी में डाला गया। इससे मुद्दों और प्रतिनिधित्व पर बहुत ज़्यादा असर पड़ा है। कुछ लोग या समुदाय बहुत लम्बे समय से आदिवासी पहचान के लिए लड़ते रहे हैं। मिसाल के तौर पर, असम में चाय बाग़ान

में जिन समुदायों को 150 साल पहले ले जाया गया था, वे तब से लड़ रहे हैं कि उन्हें आदिवासी पहचान मिले। हम यह जानते हैं कि जो अनुसूचित जनजाति का दर्जा है वह बहुत सारे अलग-अलग तरह के राजनीतिक कारणों से दिया जाता है। निश्चित रूप से इन श्रेणियों के कारण एक बड़ा बदलाव आया है। दूसरी बात लोकसभा में अनुसूचित जनजातियों के लिए 41 सीटों के आरक्षित होने से संबंधित है। हम यह देखते हैं कि जब ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों में चुनाव होता है, तो दो आदिवासी उम्मीदवार लड़ते हैं। एक तरफ़ वह रहेगा जो ज़्यादा आदिवासी अधिकारों की बात करता है; दूसरी ओर, एक ऐसा आदिवासी उम्मीदवार होता है जो ग़ैर-आदिवासी एजेण्डे पर चुनाव लड़ता है और उसके साथ ग़ैर-आदिवासियों का वोट जाता है। और हम जानते हैं कि एक ख़ास पार्टी इसीलिए आदिवासी क्षेत्रों में अपना वर्चस्व क़ायम रखने में सफल रही है। इस व्यवस्था में संसद में आदिवासियों की वास्तविक आवाज़, उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व आना सम्भव नहीं है।

नरेंद्र बस्तर : देखिए, अभी जो चर्चा हो रही है, उसमें मोटा-मोटा यह आकलन ज़रूरी है कि यह संकट कितना गहरा है। मतलब आज आदिवासी के पास तो कोई विकल्प नहीं दिखता, किंतु क्या जो हमारे जैसा कोई ग़ैर-आदिवासी है उसके पास विकल्प है? उसके पास भी कोई विकल्प नहीं है। इससे जो 'मुख्यधारा' वग़ैरह की हम बात कर रहे हैं, वह अपने-आप धराशायी हो जाती है। संविधान, संसदीय प्रणाली और विभिन्न क़ानूनों आदि के बारे आगे बात करूँगा। लेकिन मुझे यह सोच कर बड़ी हैरानी होती है कि आख़िर संविधान को आदिवासियों की भाषा, मसलन गोंडी, मैथिली, हल्बी या राजस्थानी भाषा में क्यों नहीं लिखा गया? इसे हिंदी और अंग्रेज़ी में ही क्यों लिखा गया? क्योंकि इन्हीं भाषाओं में इनका लिखा जाना सम्भव था। इसके पीछे जिस तरह की चेतना काम कर रही थी, वह तो मैं पूरी तरह नहीं बता सकता— लेकिन इतना तय है कि जिस भाषा में संविधान या अन्य क़ानूनों को लिखा गया, उसी भाषा में बात होगी। मैं जगह-जगह देखता हूँ कि आदिवासी या अन्य लोक समाजों के बारे में जो बातचीत होती है, वह बहुत ही संवैधानिक भाषा में होती है। उसके लिए एक ख़ास तरह की संवैधानिक, क़ानूनी और तकनीकी भाषा की संरचना बन गयी है। आदिवासियों की प्राथमिकताएँ, आवश्यकताएँ, भावनाएँ और रफ़्तार इस भाषा से काफ़ी अलग हैं। इसीलिए आदिवासियों की भाषा में संविधान और क़ानून की भाषा के शब्द ही नहीं आ पाते हैं।

जब मैं अबूझमाड़ गया तो मुझे शुरू में ही लग गया कि मुझे अपनी भाषा छोड़नी पड़ेगी क्योंकि ऐसा किये बग़ैर मैं वहाँ के आदिवासियों से बातचीत नहीं कर सकता था। मैं फिर से संदर्भ-बिंदु पर वापस आना चाहता हूँ। जब मैं बाहर से आदिवासी क्षेत्रों में गया तो मैं भाषा-संरचना का एक पूरा संयंत्र, पूरी समझ लेकर वहाँ गया था और मुझे यह अहसास हो गया कि इसे छोड़े बग़ैर वहाँ रहना नहीं हो पाएगा, बात करना तो दूर की बात है। आदिवासियों के बीच न्याय के लिए कोई शब्द नहीं है, घर की परिभाषा अलग है, नारी-पुरुष के रिश्ते अलग हैं, घर अंदर न होकर बाहर है। तो मुझे यह अहसास हुआ कि जो भाषा मैं लेकर आया हूँ उसकी अपने समाज में सार्थकता होगी, लेकिन यहाँ उसकी कोई सार्थकता नहीं है। अब ये सारे जो क़ानून हैं चाहे वह पेसा हो या वन अधिकार क़ानून हों— ये सब इसी बाहरी भाषा और बाहरी नीयत के माध्यम से आये। ये आदिवासियों की नीयत, उसकी संवदेना, उसके समाज की लय, उसकी आवश्यकता के माध्यम से नहीं आये। अब जब वन अधिकार क़ानून आया, तो उसमें अनुसूचित जनजाति और 'अन्य पारम्परिक वनवासी' को अधिकार देने के संबंध में समय का अंतर रखा गया है। इससे बस्तर में, ख़ास तौर पर उत्तर बस्तर में, कांकेर के इलाक़े में एक 'सिविल वॉर' (गृह युद्ध) की स्थिति बन गयी। इसके बारे में सिर्फ़ बस्तर के अलावा कहीं और कोई बहुत ज़्यादा चर्चा नहीं हुई। इस क़ानून यानी वन अधिकार क़ानून के आने से आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी के बीच मार-काट शुरू हो गयी, कई गाँव जला दिये गये, आदिवासियों द्वारा कई ग़ैर-आदिवासियों को जला दिया गया। मैं



चार बड़े प्रमुख आदिवासी भील, गोंड, संथाल और मीणा कुल जनसंख्या का 60 प्रतिशत हो जाते हैं। बाक़ी के 701 समुदायों का प्रतिनिधित्व कहाँ है, उनकी आवाज़ कहाँ जाती है? मसलन, मुख्य रूप से छत्तीसगढ़ में पाया जाने वाला बैगा समुदाय इतना छोटा है कि वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है कि भारतीय संसदीय व्यवस्था में उसका कोई प्रतिनिधि होगा या उसकी आवाज़ पहुँच सकती है।

आदिवासियों का दुश्मन नहीं हूँ, मैं वहाँ रहा हूँ। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि यह एक ख़ास तरह की भाषा में लिखे गये ख़ास तरह के क़ानून और उसके माध्यम से व्यक्त होने वाली एक ख़ास तरह की संवेदनशीलता या असंवेदनशीलता का नतीजा था।

बस्तर का कोई लिखित इतिहास नहीं है, भले ही बाद में उसे तैयार करने की कोशिश की गयी। किंतु ऐसे ही इतिहास को आधार बनाकर कहा गया कि भाई तुम तो आठ सौ साल पहले गुजरात से आये थे, अब अपने घर जाओ। अब ये ज़मीन हमारी है और क़ानून के माध्यम से हमें मिलेगी। इसलिए पहली बार सदियों से साथ रह रहे बस्तर में आदिवासियों के बीच दरार आयी। असल में, जब मैं वहाँ गया था तो मुझे यह तय करने में चार-पाँच साल लग गये थे कि इनमें से कौन आदिवासी हैं और कौन ग़ैर-आदिवासी। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि लोगों के चेहरे की बनावट, खान-पान, भाषा-बोली, घरों का स्वरूप सब कुछ एक जैसा ही था। तो मुझे यह जानने में काफ़ी समय लगा कि यहाँ का जो लोहार है वह आदिवासी नहीं है, ग़ैर-आदिवासी है। उस समाज में पहली बार घर जला दिये गये, मवेशियों को खोलकर जंगलों में भगा दिया गया। दरअसल, संसदीय प्रणाली, क़ानून की भाषा आदि के कारण ज़मीनी स्तर पर इसी तरह के नतीजे सामने आये कि एक समाज टूटा। शहरी क्षेत्र के आदिवासी, शिक्षा प्राप्त कर चुके आदिवासी तो संविधान और क़ानून की भाषा में बात करने लगे, क्योंकि उन्हें एक तरह से ऐसा करने के लिए प्रशिक्षित किया गया। लेकिन मैं बस्तर में जिस गाँव में रहता हूँ, वहाँ भी ज़्यादा अंदरूनी हिस्से में जो गाँव थे, वहाँ जब पटवारी आदि की सर्वे टीम को उस गाँव के लोग आगे नहीं जाने देते थे, और चूँकि वे बाहर से आये लोग थे, इसलिए उन्हें उन गाँवों की जानकारी भी नहीं थी। मेरे इस गाँव के लोग सर्वे टीम को इसलिए आगे नहीं जाने देते थे

ताकि वहाँ की ज़मीन का माप न हो, और उस पर इन्हीं का क़ब्ज़ा हो जाए। यही बदले हुए आदिवासी की स्थिति है, इसे ही हम 'मुख्यधारा' का आदिवासी कहते हैं जो अब शिक्षित होने लगा है और हमने इसके लिए भी बहुत-सी चीज़ों मसलन मोबाइल फ़ोन आदि को आवश्यक बना दिया है। यह तथाकथित रूप से जाग्रत हो गया है और इस तरह की भाषा बोलने लगा है। यह वह आदिवासी है जो उस संरचना को भूल गया है जिससे उसकी बोली बनती थी।

हालाँकि ये थोड़े बुनियादी सवाल हैं। फिर भी मैं इन्हें उठा रहा हूँ। हमको थोड़ा भाषा पर ज़ोर देना होगा कि आख़िर शब्द कहाँ से आये, इनके क्या मंसूबे हैं। अब मेरे अपनी निजी ज़िंदगी में तो संसदीय प्रणाली आदि से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा है। हो सकता है कि कुछ असर पड़ा भी हो, लेकिन मैं उससे अवगत नहीं हूँ। कुछ परिवर्तन तो हुए, मसलन मैं राजस्थान से आता हूँ। घर में राजस्थानी बोली जाती है, लेकिन मुझे बताया गया कि मातृ-भाषा हिंदी है। तो मैं घर में राजस्थानी, बाहर हिंदी और स्कूल में अंग्रेज़ी का प्रयोग करने लगा। क्या हम आदिवासियों को इसी तरह बदल कर उनकी बात करना चाहते हैं? तो इसका नतीजा आपसी संघर्ष, हिंसा, घरों को जलाने और मवेशियों को खोलने के रूप में ही सामने आएगा। आदिवासियों को पुलिस केस और जेलों का सामना करना पड़ेगा। मैं यही कहना चाहता हूँ कि बाहर से थोपी गयी इस भाषागत संरचना के कारण आदिवासी बदल रहा है, और यह इसके लिए अच्छा नहीं है।

अब सवाल यह खड़ा होता है कि उसके लिए अच्छा क्या है? मेरा यह मानना है कि उसके अनुसार उसके लिए जो अच्छा है, वहीं मेरे लिए भी अच्छा है। इसीलिए मैंने कहा कि यह विकल्प का सवाल 'मुख्यधारा' के लोगों के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि आख़िर आदिवासी कहाँ जाए? मैं चाहे रामकृष्ण मिशन वाला हूँ, चाहे कंठी बाबा वाला हूँ, चाहे मीडिया वाला हूँ, मैं चाहे माओवादी हूँ या फिर चाहे मैं जो भी हूँ— मैं बस्तर को आगे बढ़ाना चाहता हूँ। मैं अपनी तरह से बस्तर को आगे बढ़ाना चाहता हूँ। मुझे यह लगता है कि अब इस प्रक्रिया को उल्टी दिशा में मोड़ने का वक़्त आ गया है। यानी अपने आप को बचाना है तो बस्तर से कुछ सीखो। अब संकट आप पर ज़्यादा है, आप की भाषा, आपकी पूरी संरचना इस संकट से जूझ रही है। इसलिए आदिवासी समाज को जो बचा-खुचा आदिवासियत है, हमें अपने समाज को उसके आलोक में ढालना होगा।

नंदिनी सुंदर : मैं नरेंद्रजी से सहमत हूँ कि जब हम बात करते हैं तो जिस समाज को 'मुख्यधारा' का समाज माना जाता है, उस पर प्रश्न खड़ा करना ज़रूरी होता है। मसलन, पूरी दुनिया के लिए जलवायु परिवर्तन इतना बड़ा मुद्दा बन गया है कि हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। यह बस्तर, दिल्ली या हर स्तर को प्रभावित करता है। इसलिए सबको अपने व्यवहार को बदलना पड़ेगा और उसे ज़्यादा से ज़्यादा प्रकृति के पर्यावरण के अनुरूप बनाना पड़ेगा। लेकिन मैं इससे सहमत नहीं हूँ आदिवासी समाज में लोग जैसे हैं उन्हें बचाना पड़ेगा। असल में हर कोई बदलता है। पूरी दुनिया में तेज़ी से बदलाव हो रहा है और आदिवासी समाज भी एक बदलाव की प्रक्रिया से गुज़र रहा है।

जब मैं बस्तर जाती हूँ तो मैं लोगों को आदिवासी, ग़ैर-आदिवासी के रूप में नहीं देख पाती हूँ। वहाँ कुछ लोग मेरे दोस्त हैं और कुछ लोग मेरे दुश्मन हैं। और ये आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी— दोनों ही हैं। यह पूरी तरह से विचारधारा से जुड़ा है। उनका जो मानवीय व्यवहार है उससे जुड़ा हुआ है। और यदि आप एक महिला हैं तो आप यह बिल्कुल नहीं कहेंगी कि किसी समाज को जैसा वह है, वैसा ही रहना चाहिए। आदिवासी समाज में भी बहुत सारी समस्याएँ हैं। मसलन, महिलाओं के साथ घरेलू हिंसा, दो बीवियाँ रखना, मासिक आने पर लड़कियों या महिलाओं को घर से बाहर जंगल जाने की मजबूरी, जिसमें कई बार महिलाएँ साँप काटने से मर जाती हैं। इसी तरह, खान-पान में भी भेदभाव हैं। मसलन महिलाएँ अण्डा नहीं खा सकतीं, लेकिन पुरुष अण्डा खा सकते हैं। आदिवासी



आदिवासी समाज में भी बहुत सारी समस्याएँ हैं। मसलन, महिलाओं के साथ घरेलू हिंसा, दो बीवियाँ रखना, मासिक आने पर लड़कियों या महिलाओं को घर से बाहर जंगल जाने की मजबूरी, जिसमें कई बार महिलाएँ साँप काटने से मर जाती हैं। इसी तरह, खान-पान में भी भेदभाव हैं। मसलन महिलाएँ अण्डा नहीं खा सकतीं, लेकिन पुरुष अण्डा खा सकते हैं।

समाजों में काफ़ी भेदभाव है, और ऐसा हर जगह के आदिवासी समाजों में हैं। उत्तर-पूर्व में नगालैण्ड में आरक्षण को लेकर बहुत बवाल हुआ था। इसलिए मेरा यह कहना है कि हर समाज को बदलने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि बदलाव कहाँ से आ रहा है, कौन बदलाव करने जा रहा है और उसकी मंशा क्या है। मुझे लगता है कि यह दृष्टिकोण ग़लत है कि आदिवासी की लड़ाई पूरी दुनिया में चल रहे संघर्षों से अलग है। यह सबकी लड़ाई है कि कैसे सामाज को पर्यावरणीय रूप से संतुलित, लोकतांत्रिक और प्रगतिशील बनाना चाहिए। तो जब आप संसदीय प्रणाली की बात करते हैं तो यह सिर्फ़ आदिवासी इलाक़े की नहीं, बल्कि पूरे देश की समस्या है। पैसे के बल पर चुनाव लड़े और जीते जाते हैं। सभी समूहों को पूरी तरह प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता है। 'फ़र्स्ट पास्ट द पोस्ट सिस्टम' में भले ही किसी उम्मीदवार को 30 प्रतिशत मत मिलें, और भले ही बाक़ी 70 प्रतिशत उसे नापसंद करें, वह व्यक्ति जीत जाता है और संसद में पहुँच जाता है। एक तो पूरे देश में चुनावी व्यवस्था को बदलने की आवश्यकता है। और अभय (खाखा) ने जो बात की थी कि छोटे समुदायों को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है, उसके बारे में सोचने की आवश्यकता है, सिर्फ़ आदिवासियों के संदर्भ में ही नहीं बल्कि हर ऐसे समुदाय के बारे में जो इस चुनावी व्यवस्था में प्रतिनिधित्व हासिल नहीं कर पाता है। अगर आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होती, तो शायद इस समस्या को दूर किया जा सकता था।

फिर, चुनावी प्रतिनिधित्व के अलावा और भी कई ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें हम नहीं सोच पा रहे हैं, अन्य देशों में लोगों ने इन पर विचार किया है और इन्हें अपनाया है। जैसे कई देशों में स्कूलों में मातृभाषा में पढ़ाये जाने पर ज़ोर दिया जाने लगा है। या इस पर भी विचार किया गया है कि अगर किसी गाँव में तीन भाषा को बोलने वाले लोग हैं तो उन्हें उनकी मातृभाषा में किस प्रकार शिक्षा दी जाए। मुझे लगता है कि इस देश में सबसे बड़ी कमी है— कल्पनाशीलता की, और पिछले चार साल-पाँच साल में हमारी कल्पनाशीलता पर सबसे ज़्यादा दबाव आया है। हम सब जो सबसे न्यूनतम बचा हुआ है, यानी कि संविधान उसे ही बचाने में लगे हुए हैं, और एक नयी कल्पना नहीं कर पा रहे हैं। हमारे संविधान में कई चीज़ें बहुत अच्छी हैं, लेकिन बहुत सारे पहलुओं के संदर्भ में बदलाव करने की आवश्यकता है।

ख़ास तौर पर, पाँचवीं और छठी अनुसूची इतनी बेकार है कि जयपाल सिंह ने भी उसका बहुत विरोध किया था। जब इन दोनों पर संविधान सभा में विवाद हुआ, तो आम्बेडकर ने के.एम. मुंशी के साथ मिल कर इसे पास करवाया था। यदि आप संविधान सभा को देखें तो आप पाएँगे कि एक ओर दक्षिण भारत के लोग थे जो अंग्रेज़ी में बोल रहे थे, दूसरी ओर उत्तर भारत के कई सदस्य थे जो हिंदी पर ज़ोर दे रहे थे और उनका यह भी कहना था कि यदि आप हिंदी में नहीं बोलेंगे तो आपको संविधान सभा छोड़नी पड़ेगी। आरम्भ से ही हिंदू महासभा को ज़्यादा स्थान दिया गया, कम्युनिस्टों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था, आदिवासियों में जयपाल सिंह जैसे एकाध लोग ही थे। तो, संविधान सभा में

उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं था। आदिवासियों के लिए जो प्रावधान बने वे बहुत ही कमज़ोर थे। इसलिए ज़रूरत है कि संविधान को बदलना चाहिए, लेकिन सबके लिए बदलना चाहिए। साची (सव्यसाची) और नरेंद्रजी बोल रहे हैं कि फ़ॉरेस्ट राइट्स एक्ट (वन अधिकार क़ानून) से इतना ख़तरा हुआ है या इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। ठीक है, लेकिन यह तो एक छोटा-मोटा क़ानून है जिसे ठीक से लागू भी नहीं किया गया। लेकिन जो मुख्य बड़े क़ानून है मसलन, भूमि अधिग्रहण क़ानून, खनन अधिनियम, भारतीय दण्ड संहिता आदि की भी बात करनी होगी। हम आदिवासियों के जीवन को प्रभावित करने वाले इन प्रमुख क़ानूनों की बात नहीं करते हैं तथा पेसा और वन अधिकार क़ानून पर ही ज़्यादा अनुसंधान करते हैं। तो मुझे लगता है कि पूरा ढाँचा को बदलना चाहिए, चुनावी व्यवस्था को बदलना चाहिए, संविधान को बदलना चाहिए। और जो क़ानूनी व्यवस्था है उसे भी बदलना चाहिए। अब हम कुछ भी नहीं बदल पा रहे हैं, जो है उसे भी नहीं बचा पा रहे हैं और इतनी ख़तरनाक स्थिति हो गयी है कि आदिवासी, दलित, मुस्लिम सब लोग ख़त्म होते जा रहे हैं। सिर्फ़ एक तबक़े का वर्चस्व हो गया है जो नफ़रत से भरा हुआ उच्च जाति, उत्तर भारतीय, हिंदी भाषी, हिंदुत्ववादी आदमी ही पूरे देश को अपनी छवि के अनुसार बनाने की कोशिश कर रहा है।

अभय कुमार दुबे : कमल, मैं प्रोफ़ेसर सुंदर और अभय खाखा से एक प्रश्न करना चाहता हूँ, जिससे मुझे लगता है कि चर्चा में ज़्यादा स्पष्टता आ सकती है। अभय, आपने यह कहा था कि आदिवासियों का एक हिस्सा जाति-व्यवस्था में समाहित हो रहा है, लेकिन उससे यह स्पष्ट नहीं हुआ कि वह कौन-सी जातियों में जा रहा है। दूसरा, आपने बताया कि ग़ैर-आदिवासी आदिवासियत के अंग बनना चाहते हैं, तो आप यह भी स्पष्ट कर दें कि वे ग़ैर-आदिवासी कौन हैं? क्या ब्राह्मणों में से कुछ लोग हैं, पिछड़ी जातियों में से हैं या अनुसूचित जातियों में से हैं? अगर आप इसका जवाब दें तो आदिवासियों में होने वाला सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट हो जाएगा। दूसरा, नरेंद्रभाई ने आरम्भ में एक बात कही कि माओवादियों ने आदिवासियों को काफ़ी नुक़सान किया है, यह नुक़सान भारतीय राज्य द्वारा किये गये नुक़सान से भी काफ़ी ज़्यादा है; भारतीय राज्य अपने आलस्य और अपने भ्रष्टाचार के कारण इतना नुक़सान नहीं कर पाया, तो संक्षेप में यह स्पष्ट हो जाए कि माओवादियों ने क्या नुक़सान किया है? नंदिनी सुंदर ने यह कहा कि आदिवासियों में जो जनसांख्यिक परिवर्तन हो रहा है, जिसे हिंदुत्ववादी छिपाते हैं, और मुसलमानों वाले परिवर्तन पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं— तो मेरी जिज्ञासा यह है कि यह जो जनसांख्यिक परिवर्तन है वह पिछले चार सालों में पहले के मुक़ाबले तेज़ी से बढ़ा है या यह पहले से चला आ रहा है और उसी रफ़्तार से चल रहा है?

कमल : जो माओवादियों वाला मसला है, वह चौथे प्रश्न के रूप में आगे आएगा और नरेंद्रजी उस समय इस पर अपना विचार रख सकते हैं।

नंदिनी सुंदर : नहीं, ऐसा नहीं है कि यह पिछले चार सालों में ज़्यादा बढ़ गया है। यह पिछले कई दशकों से चला आ रहा है।

अभय खाखा : मैं झारखण्ड के गढ़वा और लातेहार क्षेत्र में काम करता हूँ। वहाँ पर दो प्रमुख आदिवासी समुदाय हैं, एक तो है चेरो और दूसरा है खैरवार। ऐसा कहा जाता है कि एक समय चेरो और खैरवार एक ही समुदाय के लोग थे। इनके पुजारी या समुदाय का नेतृत्व करने जैसी बहुत सारी व्यवस्थाएँ एक जैसी हैं। लेकिन हम देखते हैं कि आदिवासी इलाक़ों में हर समुदाय इतिहास की एक नयी परिभाषा खोज रहा है। चेरो ये कहते हैं कि वे पहले राजपूत थे और स्थानीय इलाक़े में जो रोहतासगढ़ का क़िला था वे



बहुत से ऐसे समुदाय हैं, जो आदिवासी संस्कृति के अनुरूप जीते रहे हैं किंतु आदिवासी नहीं हैं। मसलन, झारखण्ड के महतो। लम्बे समय से इन्हें आदिवासी (अर्थात् अनुसूचित जनजाति) की श्रेणी में डालने के लिए आंदोलन चल रहा है, और सरकार ने कहा है कि वह उन्हें इस श्रेणी में डाल देगी। लेकिन इसे लेकर काफ़ी जगह विरोध भी हो रहा है क्योंकि आदिवासियों की सुविधाओं का दायरा बहुत ही छोटा है।

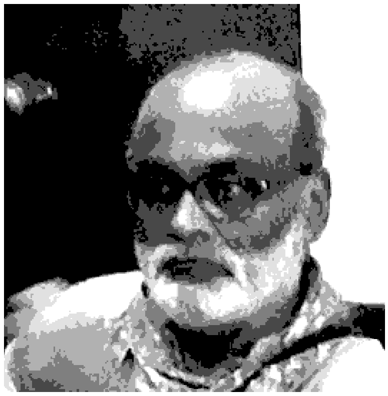
उसी के आस-पास रहते थे। साथ ही, वे अपना जुड़ाव झारखण्ड से ज़्यादा राजस्थान से मानते हैं। लेकिन वहाँ एक कहावत यह भी है कि 'बढले तो चेरो, घटले तो खैरवार'। एक तरह की वर्ग व्यवस्था भी सामने आती है। यानी आपकी स्थिति बेहतर हो गयी, आपके पास ज़मीन बढ़ गयी तो आप उच्च जाति-व्यवस्था में आ गये। और यदि आप की आर्थिक स्थिति घट गयी, आप भूमिहीन हो गये, पूरी तरह वनोपज पर निर्भर हो गये, तो आपकी स्थिति ख़ैरवार जैसी हो जाती है।

यह एक छोटा-सा उदाहरण है कि किस तरह आदिवासी का एक तबक़ा खुद को जाति-व्यवस्था में देख रहा है। दूसरा, जहाँ तक आदिवासियत का प्रश्न है, हम जानते हैं कि बहुत समय से संस्कृति के स्तर पर प्रामाणिक आदिवासी की बहस चल रही है। उसी के अंतर्गत कई तरह के मापदण्ड डाले जा रहे हैं, अर्थात् जो एक ख़ास तरह की भाषा बोलेगा वही आदिवासी है; जो जल, जंगल, ज़मीन की बात करेगा, वह आदिवासी है; जो सरकार के साथ मिल गया है वह आदिवासी नहीं है। इस तरह, बहुत से मापदण्डों को ज़मीनी स्तर पर लागू करने का प्रयास किया जा रहा है। एनजीओ या जन संगठनों के लोगों द्वारा भी ज़मीनी स्तर पर तरह-तरह की कोशिशें की जा रही हैं। इसी के अंतर्गत जो शहरी आदिवासी हैं उन्हें अलग तरीक़े से देखा जाता है कि इन्होंने तो भाषा भी छोड़ दी है, संस्कृति भी छोड़ दी है, ये तो अब आदिवासी नहीं रहे, और इस तरह उन्हें आदिवासियत के दायरे में नहीं माना जाता है। लेकिन बहुत से ऐसे समुदाय हैं, जो आदिवासी संस्कृति के अनुरूप जीते रहे हैं किंतु आदिवासी नहीं हैं। मसलन, झारखण्ड के महतो। लम्बे समय से इन्हें आदिवासी (अर्थात् अनुसूचित जनजाति) की श्रेणी में डालने के लिए आंदोलन चल रहा है, और सरकार ने कहा है कि वह उन्हें इस श्रेणी में डाल देगी। लेकिन इसे लेकर काफ़ी जगह विरोध भी हो रहा है क्योंकि आदिवासियों की सुविधाओं का दायरा बहुत ही छोटा है।

बहरहाल, मुख्य बात यह है कि महतो जैसे कई ग़ैर-आदिवासी समुदाय हैं जो लम्बे समय से आदिवासियों के सान्निध्य में रहे हैं। मसलन, झारखण्ड के आजसू (ऑल झारखण्ड स्टूडेंट्स एसोसिएशन) के अध्यक्ष सुदेश महतो हैं, और इस संगठन में बहुत से 'महतो' लोग जुड़े हुए हैं और वे आदिवासियों के अधिकारों की बात करते हैं। तो इस प्रकार हम देखें तो एक मूल्य आधारित आदिवासी पहचान गढ़ी जा रही है। इसमें कम्युनिस्ट, जनांदोलन, एनजीओ— इन सबकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। और यदि आपको अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी बात रखनी है तो एक ढाँचे में घुसना होगा। लेकिन ऐसा नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय मानक पूरी तरह से सुनिश्चित हैं। इनमें भी काफ़ी खींच-तान हो रही है। स्थानीय ताक़तें भी इन्हें निर्मित करने में अहम भूमिका निभा रही हैं।

अभय कुमार दुबे : आपने यह कहा था कि चार बड़े समुदाय हैं जो आदिवासियों की 80 फ़ीसदी जनसंख्या बनाते हैं। इन चारों समुदायों के आपने जो नाम लिए थे उसमें उत्तर-पूर्व का भी कोई समुदाय है या सारे के सारे मध्य भारत वाले इलाक़े के हैं?

मैं जिस आदिवासी को जानता हूँ वह बड़ी आसानी से पाँच भाषाएँ बोलता है। एक भाषा से दूसरी भाषा में जाने से उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। जैसे-जैसे वह शिक्षित होता जाता है, वह सारी भाषाएँ भूल जाता है। और जैसे-जैसे वह उच्च वर्ग में जाता है, वह एक भाषा भी ठीक से नहीं बोल पाता है। मैं भी आदिवासी हूँ क्योंकि मैं चार भाषाएँ बोल लेता हूँ। यदि हमें हिंदुस्तान के उस वजूद को बचा कर रखना है, तो इस भाषा (क़ानून की भाषा) से हमें मुक्ति पानी पड़ेगी।



अभय खाखा : उत्तर-पूर्व में नगा समुदाय सबसे बड़ा समुदाय है। लेकिन अब अलग-अलग जनगणनाओं में इसके विभिन्न उपसमूहों की अलग-अलग नामों से गणना हो रही है। कहीं पर 22 क़िस्म के गिने गये, तो कहीं 40 क़िस्म के गिने गये। इसलिए उतर-पूर्व में बड़े आदिवासी समुदाय नहीं हैं और जनसंख्यात्मक रूप से उनका स्थान नीचे है।

आकाश कोयाम (एक श्रोता) : मेरा नाम आकाश कोयाम है। मैं सेंटर फ़ॉर इक्विटी स्टडीज़ में काम करता हूँ। मुझे लगता है कि अभय (खाखा) जो यह बोल रहे हैं कि आदिवासी जाति-व्यवस्था में समाहित हो गये हैं, तो इस तरह से बोलना काफ़ी समस्याग्रस्त है। मेरा खुद का शोध उत्तर छत्तीसगढ़ में गोंड समुदाय पर था। वहाँ पर जो गोंड समुदाय के लोग हैं, और जो बाक़ी समुदाय के लोग हैं वे ख़ुद राजपूत होने का दावा करते हैं। इसकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। 1960 के दशक में यहाँ ईसाई मिशनरियों के खिलाफ़ आंदोलन चला, और एक तरह की मॉइथोलॉजी तैयार की गयी। चूँकि राम राजा थे और राजपूत थे, और गोंड भी शासक रहे हैं, तो यह भावना तैयार की गयी कि गोंड भी राजपूत हैं। बंगा भुखिया अपनी पुस्तक *रूट्स ऑफ़ द पेरीफ़ेरी* में यह बात करते हैं कि औपनिवेशिक समय में राजपूत होने का दावा करना अधिकार लेने का एक ज़रिया था क्योंकि उस समय उच्च जाति के लोगों को जमींदारी और अन्य सुविधाएँ मिल रही थीं। यदि हम ओडीशा में देखते हैं, तो वहाँ भी विश्वमय पति इसी तरह की बात करते हैं। दूसरा, यदि जनगणना के दौरान उनसे पूछा जाता है कि आप कौन से धर्म से हो, तो वे बोलते हैं कि जाति प्रमाण-पत्र में तो हिंदू लिखा है, तो हम हिंदू हैं। फिर जनगणना कर्मचारी पूछते हैं कि हिंदू में आप कौन-सी जाति से आएँगे, तो वहाँ सभी खुद को राजपूत बोलते हैं। इसलिए भले ही वे खुद को राजपूत बोलते हैं लेकिन उनका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन आदिवासी समाज से ही जुड़ा हुआ है। इसलिए मुझे लगता है कि आदिवासी और जाति के प्रश्न को 'ब्लैक ऐंड व्हाइट' में देखना थोड़ा ग़लत होगा।

नंदिनी सुंदर : यहाँ एक छोटी-सी बात मैं जोड़ना चाहती हूँ कि बहुत से राजपूत आदिवासी हैं। मसलन, छत्तीसगढ़ में जो राजपूत शासक हैं, वे आदिवासियों से ही अलग होकर खुद को सूर्यवंशी आदि बोलने लगे।

अभय कुमार दुबे : उत्तर बंगाल में जो राजवंशी हैं, जिन्होंने नक्सलवादी आंदोलन में भाग लिया, वे भी राजपूत और आदिवासी के बीच कहीं स्थित हैं।

III
आदिवासी / हिंदू / ईसाई

कमल : मैं जिस अगले मसले को उठाना चाह रहा हूँ, वह अभी हम जो बातचीत कर रहे हैं उसी से जुड़ा हुआ है। एक बात तो यह है कि आदिवासी समाज पर काफ़ी बाहरी प्रभाव पड़ा है और दूसरा यह कि हिंदू धर्म से भी उनका जुड़ाव रहा है। एक तरह का संबंध हमेशा रहा है। मैं दो मुख्य बिंदुओं पर यहाँ बात करना चाह रहा हूँ। एक तो एक बाहरी एजेंसी के रूप में ईसाई मिशनरियों की भूमिका, और दूसरा वनवासी कल्याण आश्रम की भूमिका। इसमें कई अन्य पहलू भी हो सकते हैं जैसे एनजीओ और कई अन्य कारक। लेकिन मुख्य रूप से इन्हीं दो बिंदुओं पर ध्यान देकर मैं अपनी बात कहना चाहता हूँ। और मैं चाहूँगा कि आप लोग भी इस पर अपनी टिप्पणी दें तो ये आयाम ज़्यादा स्पष्टता से सामने आ पाएँगे। एक बात तो यह है कि जो ईसाई मिशनरी हैं उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के मामले में काफ़ी काम किया है तथा उन्होंने आदिवासियों को पारम्परिक रूढ़िवादी व्यवहार से बाहर निकालने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। लेकिन क्या उन्होंने उनकी संस्कृति को भी सकारात्मक या नकारात्मक अर्थ में प्रभावित किया है? इस संदर्भ में मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ।

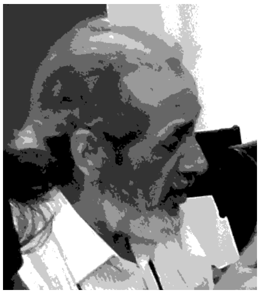
दूसरा, वनवासी कल्याण आश्रम ने अपने पिछले चार-पाँच दशकों के काम में खुद को आदिवासी क्षेत्रों में जमाने में काफ़ी सफलता हासिल की है, और उन्हें आदिवासियों को हिंदू धर्म की ओर मोड़ने में भी कामयाबी मिली है। वनवासी कल्याण आश्रम दो तरह के दावों पर काम करता है : एक आदिवासी हिंदू ही हैं। 'तू और मैं एक ही रक्त' यह उनका मुख्य नारा बन जाता है। दूसरा, वनवासी कल्याण आश्रम ईसाई मिशनरियों के कामों की आलोचना है और यह मानता है कि अपने काम द्वारा मिशनरियाँ भारतीय समाज की संरचना को बदल रही हैं। और इन दोनों ही आधारों से यह संगठन अपने काम के लिए ऊर्जा प्राप्त करता है। अभी यहाँ आदिवासियों द्वारा राजपूत बताने के संदर्भ में बातचीत हो रही थी, तो आदिवासियों की जो परम्पराएँ हैं, उनके जो त्यौहार हैं, उनके जो देवता हैं, वे क्या हिंदुओं के इतने क़रीब हैं कि वनवासी कल्याण आश्रम के कार्यकर्त्ता आसानी से यह दावा कर पाते हैं कि आपके ईश्वर, हमारे ईश्वर सब एक ही हैं, इसलिए आप सब हिंदू हैं। इसलिए मेरा प्रश्न यह है कि आदिवासी समाज में ईसाई मिशनरियों और वनवासी कल्याण आश्रम— इन दोनों ही संगठनों की भूमिका को किस प्रकार समझा जा सकता है?

सव्यसाची : मुझे यह भाषा समझ में नहीं आती कि मैं आदिवासी हूँ, राजपूत नहीं हूँ। और यदि राजपूत हूँ तो आदिवासी नहीं हो सकता? और मैं मूलत: आदिवासी कैसे हूँ, उसमें मेरी भाषा का ज़्यादा योगदान है या फिर सोच का योगदान है। और अगर मैं भाषा भूल गया हूँ किंतु मेरी अनुभूति ज़मीन से जुड़ी है तो मैं आदिवासी हो सकता हूँ आदि। ये जो तामझाम है वह मेरे पल्ले नहीं पड़ता। मुझे लगता है कि यदि हम सरकार की परिभाषा को मान लेते हैं तो हमें ऐसा ही सोचना पड़ेगा। इसके अलावा, हमारे पास कोई रास्ता नहीं बचेगा। और हम जितना ऐसा सोचेंगे, हम अपने आप को विभाजित करते जाएँगे। आपको एक छोटी-सी मिसाल देता हूँ कि इस सोच के अंदर हानि क्या है। एक आदिवासी समाज से और एक ग़ैर-आदिवासी समाज से मिसाल दूँगा। पंजाब में हरगोविंदपुर में एक मस्जिद है, जिसकी हिफ़ाज़त निहंग सिखों ने की। हाल के वर्षों में सरकारी लोग टूटी हुई मस्जिद बनाने गये। किसी मुस्लिम सांसद ने मानवाधिकार आयोग को यह चिट्ठी लिखी कि इसके अंदर गुरुग्रंथ साहिब रखा हुआ है, और इसको पूरी तरह से गुरुद्वारा बना दिया गया है। यह चिट्ठी हमारे पास आयी, तो हमने यह जवाब दिया कि गुरुग्रंथ साहिब मस्जिद में पड़ी है, इससे सुंदर बात क्या हो सकती है। खूब

बातचीत चली। वक़्फ़ बोर्ड ने हमसे यह कहा कि आप गुरुग्रंथ साहिब को यहाँ से निकालिए, और मस्जिद को साफ़ कीजिए। लेकिन उनमें इतनी अक्ल थी कि उन्होंने यह कहा कि यदि निहंग लोग इस मस्जिद की देखभाल करना चाहते हैं तो वे ऐसा कर सकते हैं; यदि कोई इनकी देख-रेख में नमाज पढ़ना चाहता है तो वह पढ़ सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। अब इस मस्जिद की कहानी यह है कि छठे गुरु ने जंग करने के बाद अपने साथियों से पूछा कि ऐसी कौन-सी चीज़ बनाई जाए जिससे आपस में सब झगड़ा मिट जाए। तब यहाँ मस्जिद बनाई गयी, और यह माना गया कि चूँकि गुरु ने कहा है इसलिए कोई मस्जिद को नहीं तोड़ेगा। और चूँकि यह मस्जिद है इसलिए मुसलमान इसे नहीं तोड़ेगा। उतने में विश्वकर्मा साहब वहाँ पधारे। उन्होंने कहा कि मस्जिद मैं बनाऊँगा। अब यह जो शख़्स है, उसका दिमाग़ है सिख, जिसकी आत्मा है हिंदू, और शरीर है मुसलमान। यदि आप इसे संविधान में रख देंगे तो मुसलमान अपना हिस्सा ले जाएगा, हिंदू अपना हिस्सा ले जाएगा और सिख अपना हिस्सा ले जाएगा। जो यह वार्तालाप हो रहा है, वह इस तरह का वार्तालाप है। एक आदमी अपना हिस्सा खींच के ले जाएगा, दूसरा आदमी अपना हिस्सा खींच के ले जाएगा और आपके पास हड्डी-मांस भी नहीं बचेगा।

अब आदिवासी जगत की कहानी बताता हूँ। अबूझमाड़ के बाहर एक सोनेपुर नाम का गाँव है। अंग्रेज़ों ने इस गाँव को बसाया। उनकी नीयत यह थी कि जो हल्बा लोग, जिन्हें वे बसा रहे हैं, उन्हें देखकर झूम खेती करने वाले कोएतुर आदिवासी झूम खेती छोड़ देंगे और धान की खेती को अपना लेंगे। उन्हें यह लगा कि हल्बा लोग कोएतुरों की भाषा सीख जाएँगे और इसके ज़रिये उन्हें यह बताएँगे कि वे कितने पिछड़े हैं। लेकिन इसका उल्टा हुआ तथा हल्बाओं और कोएतुरों में बहुत घनिष्ठ संबंध बन गया। यह संबंध इतना घनिष्ठ हो गया कि जब हल्बा ब्राह्मण कोएतुरों के यहाँ जाते थे तो उनके यहाँ इनका खाना बनाने के लिए अलग बर्तन रखे जाते थे। और जब आदिवासी हल्बाओं के घर जाता था तो उनके लिए गोश्त बनाने हेतु अलग ख़ानसामा बुलाया जाता था। दोनों में यह सोच नहीं थी कि तेरा इतना हिस्सा हल्बा है, इतना हिस्सा आदिवासी है। वे बहुत खुशी से रहते थे, नाचते थे, गाते थे। न्याय की जो उनकी व्यवस्था थी, उसमें किसी मसले पर सुनवाई करने के लिए सब एक साथ बैठते थे। एक-दूसरे के शादी-ब्याह में जाते थे। लेकिन अब वहाँ क़ानून आ गया, संविधान आ गया। इसमें पहचान की परिभाषा क्या दी गयी ? मूलतः आदिवासी, मूलतः हिंदू, मूलतः मुसलमान, मूलतः अंग्रेज़, मूलतः मिशनरी। तो वहाँ झगड़े शुरू हो गये। पहले ज़मीन और जंगल की हिफ़ाज़त होती थी, लोग साथ खुश रहते थे, अपराध कम था, लेकिन वह सब ख़त्म हो गया। मैं शृंगार भूमि में काम करता था। वहाँ पर एक कंठी बाबा हैं। वे यह कहते थे कि वे प्रवीणचंद भंजदेव के अवतार हैं। वे आदिवासियों से कहते थे कि कंठी बाँध लो तथा मांस खाना और दारू पीना छोड़ दो। अबूझमाड़ के कुछ आदिवासियों ने यह कहा कि हम ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि मेरा आपका तीन पुश्त का उठना-बैठना है। तीनों पुश्तों से हमने एक-दूसरे के साथ खाना खाया है। आप ब्राह्मण हो, मैं मांसाहारी हूँ। ये जो पहले का संबंध है उसे हमें नहीं तोड़ना है। कुछ आदिवासियों ने लालच के चक्कर में छोड़ दिया। कुछ लोगों को सब्सिडी मिल रही थी, किसी को गाय-भैंस मिल रही थी, और किसी को स्कूल में दाख़िला मिल रहा था तो इन लोगों ने मांस खाना और दारू पीना छोड़ दिया। हम यहाँ बैठ कर भी उसी बाहरी भाषा में बात कर रहे हैं। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम ऐसी भाषा में बात करें जिसमें सभी लोग चाहे हिंदू हों, मुसलमान हों, दलित हों— ये सब अपनी समस्याओं पर, उनके विकल्पों पर आपस में विचार कर पाएँ। हम तंत्र या सरकार की व्यवस्था से छुटकारा तो नहीं पा सकते हैं, लेकिन इस तरह के विकल्पों से हम एक साधारण जीवन जीने का रास्ता खोज पाएँगे।

अब क्रिश्चियन मिशनरियों की बात करें, तो उन्होंने बहुत कुछ किया। यह तो मिशनरी का कहना है कि हमने आदिवासियों की रूढ़िवादिता को ख़त्म किया, लेकिन उन्होंने जो आदिवासियों से



माओवादियों ने सुलह-फुलह प्रथाएँ बंद करवा दीं, हर परिवार से मण्डल की बैठक में दो सदस्यों का आना ज़रूरी बना दिया गया; यदि लोग नहीं जाते हैं तो पूछताछ होती है। और यह पूछताछ निवेदन के रूप में नहीं होती है, बल्कि बंदूक़ की नोक पर होती है। लोगों को यह सफ़ाई देनी होती है कि वे क्यों नहीं आये, और यदि माओवादियों को उनकी सफ़ाई पर यक़ीन नहीं होता है, तो उन्हें सज़ा मिलती है।

सीखा वह कभी आपको बताया? यह कहानी कोई नहीं बताता कि जब वे आदिवासियों के बीच रहे तो उन्होंने आदिवासियों से क्या सीखा। ये तो आधी सूचना हुई और इस आधी सूचना के आधार पर हम सवाल बना रहे हैं, उस पर चर्चा कर रहे हैं और रिसर्च कर रहे हैं। यह बात मुझे जमती नहीं है। मैं एक छोटी-सी बात और बोलूँगा। मैं जिस आदिवासी को जानता हूँ वह बड़ी आसानी से पाँच भाषाएँ बोलता है। एक भाषा से दूसरी भाषा में जाने से उसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। जैसे-जैसे वह शिक्षित होता जाता है, वह सारी भाषाएँ भूल जाता है। और जैसे-जैसे वह उच्च वर्ग में जाता है, वह एक भाषा भी ठीक से नहीं बोल पाता है। मैं भी आदिवासी हूँ क्योंकि मैं चार भाषाएँ बोल लेता हूँ। यदि हमें हिंदुस्तान के उस वजूद को बचा कर रखना है, तो इस भाषा (क़ानून की भाषा) से हमें मुक्ति पानी पड़ेगी। नहीं तो हम इसी आँकड़े में फँसे रहेंगे, एनजीओ दस बात बोलेंगे, संयुक्त राष्ट्र कुछ और बोलेगा; और आप किसकी बात मानेंगे, जो आपको ज़्यादा खिलाएगा उसकी बात मान लेंगे। इससे मुक्ति चाहिए और ऐसा होने पर ही सही तरीक़े से चर्चा हो सकती है। मैं मानता हूँ जो जंगल में रहता है, उससे जलवायु परिवर्तन से बचने के बहुत से रास्ते सीखे जा सकते हैं। ऐसे आठ-दस क़बीले हैं जो जंगल के अंदर रहते हैं और इससे बाहर नहीं आना चाहते, और यदि हम इनके व्यवहार को देखें तो जलवायु परिवर्तन के बारे में बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

अभय खाखा : वनवासी कल्याण आश्रम और ईसाई मिशनरी का जो मुद्दा है, मैं इसके इतिहास में नहीं जाना चाहूँगा। वर्तमान में जो कुछ हो रहा है मैं उस पर ज़्यादा बातचीत करूँगा। हम जानते हैं आदिवासी इलाक़ों में जो ईसाई मिशनरियों का इतिहास रहा है, और वनवासी कल्याण आश्रम का इतिहास रहा है, उसक पीछे काफ़ी राजनीतिक द्वंद्व रहा है। यदि हम वर्तमान में देखें तो संघ लोक सेवा आयोग में हर साल आदिवासियों के लिए 80-90 सीटें होती हैं। चूँकि ईसाई मिशनरियाँ और वनवासी कल्याण आश्रम— दोनों ही शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हैं, इसलिए हमने यह जानने का प्रयास किया कि हर साल संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले 80-90 उम्मीदवार कहाँ से आते हैं, उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि क्या है? पहली बात तो यह है कि आदिवासियों के लिए आरक्षित पचास प्रतिशत सीटें राजस्थान के मीणा भाई ले जाते हैं, क्योंकि इनके बीच से लम्बे समय से लोग इस तरह की परीक्षाओं में लगे रहे हैं। तो आधी सीटें तो एक आदिवासी समुदाय ही ले जाता है। इसके बाद 20-25 सीटें पूर्वोत्तर के आदिवासी प्रतियोगी ले जाते हैं क्योंकि उनके बीच अंग्रेज़ी की अच्छी समझ है, और उनके यहाँ जो शैक्षणिक संस्थाएँ हैं उनका स्तर काफ़ी अच्छा है। बची-खुची जो 12-15 सीटें होती हैं उसी में देश भर के आदिवासी जाते हैं। यदि हम आदिवासियों में इस परीक्षा में सफल होने वाले प्रतियोगियों की शैक्षणिक पृष्ठभूमि को देखें तो एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि इनमें से बहुत से प्रतियोगी दूसरी या तीसरी पीढ़ी के सरकारी नौकरी करने वाले परिवारों से हैं। फिर शैक्षणिक स्तर पर, विशेष रूप से राजस्थान के प्रतियोगी प्राइवेट स्कूलों में शिक्षा ग्रहण

करते हैं। दूसरा बहुत से प्रतियोगी क्रिश्चियन स्कूलों से पढ़े होते हैं। मुझे नहीं लगता कि मैंने राज्य स्तर की सेवा में भी किसी ऐसे सफल प्रतियोगी हो पाया है, जो वनवासी कल्याण आश्रम की पृष्ठभूमि से आया हो।

कहने का अर्थ यह है कि ईसाई मिशनरियाँ और वनवासी कल्याण आश्रम दो अलग-अलग मॉडल पर काम करते हैं। वनवासी कल्याण आश्रम का मॉडल आदिवासी बचाओ अर्थात् आदिवासियों के संरक्षण से संबंधित है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि इनका धर्मांतरण हो रहा है, और इन्हें बचाया जाना चाहिए। दूसरी ओर, ईसाई मिशनरियों के मॉडल में शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज सेवा— इन बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित किया गया है। इसलिए आप देखेंगे कि उन्होंने सभी स्तरों पर स्कूलों और अन्य शैक्षणिक संस्थाओं और स्वास्थ्य सेवाओं को सुधारने पर ध्यान केंद्रित किया है। लेकिन मैं आपको सबसे बड़ी बात यह बताना चाहता हूँ कि झारखण्ड में हमने 25 भूमि अधिकार कार्यकर्त्ताओं की जीवनी देखने की कोशिश की। उन 25 में से 20 की शैक्षणिक पृष्ठभूमि ईसाई मिशनरी के स्कूल-कॉलेजों की रही है। ज़मीन को लेकर या आदिवासियों के हक़ को लेकर उनकी जो अवधारणा या समझ बनी है, वह ईसाई मिशनरी की व्यवस्था अर्थात् उसके शैक्षणिक संस्थाओं से जुड़ने के कारण बनी है। यदि हम ईसाई मिशनरियों के काम को देखें, विशेष रूप से झारखण्ड में तो यह बात सामने आती है कि शुरू में शिक्षा और स्वास्थ्य को लेकर उनके जो काम हुए, उसके कारण बहुत कम धर्मांतरण हुआ था। लेकिन धर्मांतरण तब बढ़ा, जब ईसाई मिशनरियों ने ज़मीन का सवाल उठाया। जैसे छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट और संथाल परगना टेनेंसी एक्ट को ड्राफ़्ट करने में एक बहुत प्रसिद्ध पादरी फ़ादर हॉकमैन का हाथ रहा है। मैं जशपुर (छत्तीसगढ़) से हूँ। हमारे यहाँ जो ज़मींदार थे उनका काफ़ी प्रभाव था और उन्हें ओडीशा से लाया गया था, और वे काफ़ी समय तक सांसद भी रहे। उनके साथ बहुत से आदिवासियों का बहुत से गाँवों में ज़मीन का झगड़ा था। जब आदिवासियों को अपनी समस्याओं का कोई हल नहीं मिला तो वे ईसाई पादरियों की शरण में गये। हम देखते हैं कि ज़मीन के प्रश्न को लेकर ईसाई मिशनरियों का आदिवासियों क्षेत्रों में प्रवेश और दख़ल बढ़ा है। इससे मैं इससे भी जोड़ कर देखता हूँ कि जो ज़्यादातर आदिवासी समाजसेवी या कार्यकर्त्ता हैं, वे ईसाई पृष्ठभूमि से आते हैं। कुल-मिलाकर ये दो अलग-अलग मॉडल हैं और ये एक राजनीतिक और विचारधारात्मक द्वंद्व के भीतर काम कर रहे हैं।

नरेंद्र बस्तर : दरअसल मैं सरकार, मिशनरी या एक्टिविस्ट या मीडिया को अलग नहीं मानता हूँ। इनके बीच उन्नीस-बीस का फ़र्क़ है, लेकिन इनमें कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं है। ऐसा नहीं है कि बस्तर में पहली बार लोगों ने आने-जाने की शुरुआत की है। हज़ारों सालों से लोग जा रहे हैं। पहले वहाँ जो बाहर के लोग जाते थे, वे अमूमन हिंदू होते थे। मुसलमान को वहाँ पठान कहते हैं, किंतु मुसलमान काफ़ी कम गये। लेकिन जो भी लोग बाहर से गये, वे आदिवासी ही बन गये। वे जिस गाँव में जाकर बसे, वहाँ उनके घर, वेष-भूषा, खान-पान— ये सब आदिवासी समाज के साँचे में ढल गये। सिर्फ़ शादी के मसले पर काफ़ी हद तक भिन्नता रहती थी, लेकिन यदि लड़का-लड़की भाग कर शादी कर लेते थे, तो वह भी स्वीकार्य हो जाता था। इसलिए जो बाहर से आया, वह यहीं का हो गया और जो यहाँ वाला था उसने बाहर वाले का थोड़ा बहुत ले लिया। ये सीमाएँ काफ़ी तरल क़िस्म की थीं, ये तो नब्बे के दशक से ज़्यादा ठोस शक्ल में आ गयीं, और इसके बाद काफ़ी उथल-पुथल हुई है। यानी वैश्वीकरण, उदारीकरण और एक वैश्विक अर्थव्यवस्था जैसी बातों के सामने आने के बाद बाहरी और मूल बस्तरवासियों के बीच का अंतर ज़्यादा ठोस रूप धारण करने लगा।

बस्तर के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में 32 देवियाँ हैं। सबसे ऊपर तो दंतेश्वरी माई हैं, और उसके बाद और कई माताएँ हैं। इसी तरह की एक माता बंजारिन माता है। इसकी उत्पत्ति के बारे में

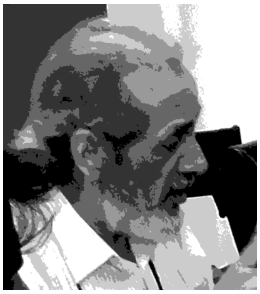


झारखण्ड में हमने 25 भूमि अधिकार कार्यकर्त्ताओं की जीवनी देखने की कोशिश की। उन 25 में से 20 की शैक्षणिक पृष्ठभूमि ईसाई मिशनरी के स्कूल-कॉलेजों की रही है। ज़मीन को लेकर या आदिवासियों के हक़ को लेकर उनकी जो अवधारणा या समझ बनी है, वह ईसाई मिशनरी की व्यवस्था अर्थात् उसके शैक्षणिक संस्थाओं से जुड़ने के कारण बनी है।

ज़्यादा पता नहीं है क्योंकि लोग इतना जानना भी नहीं चाहते हैं। आदिवासियों ने बाहरी लोगों की देवी ले ली, और उसकी पूजा करने लगे तथा बाहरी लोगों ने आदिवासियों की देवी ले ली और उसकी पूजा-अर्चना करने लगे। मैं एक ऐसी सामाजिक संरचना की बात कर रहा हूँ, जिसमें यह सम्भव होता था किंतु अब यह सम्भव नहीं है। बंजारिन माता का देवियों के बीच काफ़ी ऊँचा स्थान है। इनकी वेश-भूषा बाक़ी देवियों से अलग है, ये राजस्थान की हैं और इन्हें राजस्थानी वेश-भूषा ही पहनाई जाती है। और मैं हर गाँव की बात कर रहा हूँ कि वहाँ होने वाला मेला या पूजा तब तक शुरू नहीं होगी, जब तक वहाँ बंजारिन माता की पालकी नहीं आ जाती है। यदि दंतेश्वरी माता की पालकी आ चुकी है, तो उसे बंजारिन माता की पालकी आने का इंतज़ार करना पड़ता है। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाह रहा हूँ कि पहले बाहरी और मूल आदिवासी के बीच की सीमा-रेखा काफ़ी तरल या हल्की थी। अब के दौर में हम चाहे धार्मिक कारण से वहाँ जा रहे हों, हम रामकृष्ण मिशन के हों, कंठीवाले बाबा से जुड़े हों या हमारा रुझान कुछ भी हो या चाहे हम माओवादी हों— हम बहुत ही स्पष्ट सीमा-रेखाओं की समझ के साथ वहाँ जा रहे हैं। इसका बस्तर के समाज में बड़ा नकारात्मक प्रभाव पड़ा है, उसमें ऐसी टूटन आ रही है, जिसका उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था।

और मैंने इसी टूटन के संदर्भ में यह कहा था कि जो नुक़सान माओवादियों ने कर दिया, वह सरकार भी नहीं कर पायी। मैं सामाजिक टूटन की बात कर रहा था, जहाँ अब तू, तू है और मैं, मैं हूँ। यह उसी समाज का हाल हो गया है जहाँ लोगों को देख कर अंतर नहीं किया जा सकता था। यह समझने में वर्षों लग जाता था कि यह आदिवासी है और यह ग़ैर-आदिवासी। लेकिन बाद में जो गया, उसने यह भेद पैदा किया। संयोग की बात है कि माओवादी पहले गये, उन्होंने यह भेद किया। पड़ोस के नारायणपुर में रामकृष्ण मिशन वालों का आश्रम है। इनका विचार भी इस मामले माओवादियों की तरह ही है। तथा माओवादी का जो मानस है वह संविधान के मानस से अलग नहीं है। किसी का भी मानस आदिवासी के मानस से मेल नहीं खा पा रहा है। मैं सिर्फ़ माओवादियों की बात नहीं कर रहा हूँ, मेरा कहना है कि जब भी कोई व्यक्ति आधुनिकता का मानस लेकर वहाँ प्रवेश करेगा तो वह समाज तहस-नहस हो जाएगा। असल में, उस समाज का सिर्फ़ एक पहलू नहीं, बल्कि उसके सारे आयाम तबाह हो जाएँगे। मैं अपने अनुभवों के आधार पर बात करता हूँ।

अबूझमाड़ के आदिवासी समाज के केंद्र में घोटुल की संस्था या प्रथा कहें, वह थी, जिसे माओवादियों ने बंद करवा दिया। अबूझमाड़ के बाद यह अन्य क्षेत्रों में भी अपने-आप बंद होने लगा। नयी भाषा, नये, विचार, नयी तकनीक आदि के कारण घोटुल वैसे ही बेकार और हीन लगने लगा, जैसे कि गोंडी भाषा लगने लगी थी। पहले लोगों ने गोंडी छोड़ी और छत्तीसगढ़ी पर आये, फिर छत्तीसगढ़ी छोड़ी और हिंदी पर आये। अब हिंदी छोड़कर विदेशी भाषा-संस्कृति की ओर जा रहे हैं। मैं इस सब में एक स्पष्ट पैटर्न देखता हूँ। जब इन क्षेत्रों में घोटुल बंद हुए तो वहाँ मवेशी बाँधे जाने लगे, भूसा रखा जाने लगा या फिर वह स्थान वैसे ही ख़ाली रहता था। इस तरह, जो केंद्रीय संस्था



किसी के भी मन में बस्तर या आदिवासी की भलाई की चिंता नहीं है। और आदिवासियों को भी इनके साथ-साथ बदलना पड़ा। यदि आज के आदिवासी को बस्तर में जंगल काटने की छूट दे दें तो वह बहुत जल्दी में उन्हें काट कर साफ़ कर देगा। उसे ऐसे आर्थिक लालच की व्यवस्था से जोड़ दिया गया है कि या तो वह भी इसी तरह काम करने लगा है। वह भी अपने और अपने बच्चों के लिए ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाना चाहता है।

थी, वह क्षीण होने लगी। अबूझमाड़ में इन्हें इसलिए बंद कराया गया क्योंकि इन्हें 'कांउटर-रिवोल्यूशनरी' (प्रति-क्रांतिकारी) माना गया। आप लाल किताब पढ़िए। मैं कहता हूँ आप *लाल किताब* पढ़िए, *रामायण* पढ़िए— एक ही बात है, कोई फ़र्क़ नहीं है। माओवादियों ने सुलह-फुलह प्रथाएँ बंद करवा दीं, हर परिवार से मण्डल की बैठक में दो सदस्यों का आना ज़रूरी बना दिया गया; यदि लोग नहीं जाते हैं तो पूछताछ होती है। और यह पूछताछ निवेदन के रूप में नहीं होती है, बल्कि बंदूक़ की नोक पर होती है। लोगों को यह सफ़ाई देनी होती है कि वे क्यों नहीं आये, और यदि माओवादियों को उनकी सफ़ाई पर यक़ीन नहीं होता है, तो उन्हें सज़ा मिलती है। कभी मुख़बिरी का शक होता है, जो कि अगर होता है तो लोगों को गोली का सामना भी करना पड़ता है। इसने एक तरह से समाज और परिवार में टूटन को बढ़ावा दिया। मुझे पता नहीं है कि मेरा भाई किसका मुख़बिर है, मेरी भाभी किसकी मुख़बिर है— काफ़ी सोच-समझ के बात करनी पड़ती है। मुझे यह भरोसा नहीं है कि यदि मैं इस गाँव से उस गाँव अपनी बहन से मिलने जा रहा हूँ तो मैं पहुँच पाऊँगा की नहीं— रास्ते में लैण्डमाइन न हो, पेड़ पर स्नाइपर्स न बैठे हों, कहीं सीआरपीएफ़ के दल से न मुलाक़ात हो जाए— वे भी कम नहीं हैं, वे तो माओवादियों के भी गुरु हैं। इसके कारण, लोग अबूझमाड़ छोड़कर भागने लगे।

सव्यसाची जिसे शृंगार-भूमि कह रहे थे, और मैं भी वही मानता हूँ, अब वहाँ रहना दूभर होने लगा। बहुत से लोग टिके भी रहे। यह मुश्किल से 15 साल पुरानी बात है। मैं अबूझमाड़ के निकट के क़स्बाई या शहरी क्षेत्र नारायणपुर के पास के एक गाँव डेजडी में टिका हुआ था। मैं असल में वहाँ वेरियर एलविन का घर देखने गया था, और फिर वहाँ 6-8 दिन रहना हो गया। यह नारायणपुर से तीन किलोमीटर की दूरी पर है, इसलिए कभी चाय पीने, कभी किसी दोस्त से मिलने नारायणपुर आना-जाना होता ही था। वहाँ मैं एक परिवार से मिला, जो अबूझमाड़ से भागकर आया था। यह परिवार एक बहुत ही अंदरूनी गाँव एनार से भाग कर आया था। वह गाँव जंगल के इतने भीतर था कि नारायणपुर से पैदल बस से जाने पर कम से कम तीन दिन लगते। अस्सी के दशक तक अबूझमाड़ के सारे गाँव ऐसे थे कि गाँव और जंगल में भेद करना मुश्किल हो जाता था। झोपड़ी और पेड़ की आकृति एक जैसी थी, आदमी और झाड़ी की आकृति में भेद करना मुश्किल हो जाता था। जो परिवार भाग कर आया था, वह अबूझमाड़ में नहीं रह सकता था क्योंकि पूरे अबूझमाड़ में माओवादियों का क़ब्ज़ा था। वे नारायणपुर आये थे क्योंकि यहाँ बहुत बड़ा सीआरपीएफ़ का कैम्प था। उन्हें यह लगा था कि यहाँ सुरक्षा के तथाकथित प्रावधान हैं। लेकिन उनके सामने समस्या यह थी कि वे यहाँ करें क्या, क्योंकि उन्होंने कभी जीविका के लिए इस तरह काम नहीं किया था। और यह सिर्फ़ एक परिवार की बात नहीं है, बल्कि आपको बहुत सारे इस तरह के परिवार मिल जाएँगे। ऐसे परिवार के सदस्यों को न पैसे की गिनती आती है, और न ही तौलना आदि। इन्होंने कभी पैसा नहीं देखा, देखा भी तो इस्तेमाल करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। रिक्शा चलाने नहीं आता, साइकिल ठीक करने वाली दुकान



ईसाई मिशनरियाँ और वनवासी कल्याण आश्रम दो अलग-अलग मॉडल पर काम करते हैं। वनवासी कल्याण आश्रम का मॉडल आदिवासी बचाओ अर्थात् आदिवासियों के संरक्षण से संबंधित है। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि इनका धर्मांतरण हो रहा है, और इन्हें बचाया जाना चाहिए। दूसरी ओर, ईसाई मिशनरियों के मॉडल में शिक्षा, स्वास्थ्य और समाज सेवा— इन बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

पर भी काम नहीं कर सकते। बच्चों को भूखा भी नहीं मार सकते। ऐसे में, वह परिवार क्या करता? उस परिवार की महिला को देह व्यापार में जाना पड़ा। यह अबूझमाड़ का पहला अनुभव था, जहाँ क्रांति का यह अर्थ निकलता है। यानी जैसी-जैसी परम्पराएँ वे बना रहे हैं, उसके अनुसार खुद को ढाल लो और यदि बचना है तो बाहर आ जाओ, लेकिन बाहर उनके लिए कोई जगह नहीं है।

मैं सिर्फ़ माओवादियों की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा कहना है कि जो भी बाहर से जा रहा है, चाहे रामकृष्ण मिशन वाले हों, या चाहे खुद मैं ही क्यों न होऊँ, वे वहाँ के जीवन की गतिशीलता और समरसता को भंग करते हैं। मैं जब वहाँ गया, तो अपनी भाषा और अपने लहज़े के प्रति अत्यधिक सावधान रहा। जो भी उन क्षेत्रों में गया है, वह बहुत सुनियोजित है, सुगठित है और अपने बारे में आश्वस्त है। उसे यह पता है कि उसे क्या करना है। यह बस्तर के समाज के लिए बड़ा घातक हुआ है। ईसाई मिशनरी भी यहाँ आये हैं, वे भी उभरना चाहते हैं, उनका थोड़ा बहुत उभार हुआ भी है। लेकिन यह ज़्यादा नहीं हो पाया है क्योंकि उनसे शक्तिशाली लोग वहाँ बैठे हुए हैं। ये उत्तरी-मध्य बस्तर के कुछ गाँवों में पहुँचना शुरू हो गये हैं, लेकिन आरएसएस और माओवादियों के प्रभाव के सामने इनकी स्थिति अत्यंत दुर्बल ही कही जा सकती है। माओवादी आएएसएस और क्रिश्चियन मिशनरी दोनों को नहीं टिकने देते हैं। आरएसएस वाले मिशनरी वाले को नहीं टिकने देते हैं, जहाँ मिशनरी वाले हैं वे अपनी स्थिति को पुख़्ता रखते हैं। तो यह जो लड़ाई है वह बहुत ही सुगठित और कुशल लोगों के बीच है। मुझे तो इनकी कार्यकुशलता और कॉरपोरेट जगत की कार्यकुशलता में कोई फ़र्क़ नज़र नहीं आता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि चाहे जिंदल जाए, चाहे रामकृष्ण मिशन जाए, या फिर इनके जैसा कोई और जाए, वह एक ऐसी मानसिक व्यवस्था को लेकर जाता है जो बस्तर के लिए बहुत घातक है।

मैं इसीलिए पहले भी कह रहा था कि हमें सिर्फ़ आदिवासियत ही नहीं, बल्कि अपने लिए भी यह सवाल खड़े करने पड़ेंगे कि आख़िर हमारे लिए क्या विकल्प है? हम उसी कार्यकुशलता, सुनिश्चित सीमा-रेखा और संवैधानिक भाषा और संसदीय जीवन-शैली का शिकार हैं, जो आदिवासी या ग़ैर-आदिवासी किसी भी मनुष्य के लिए अच्छी नहीं हैं। मैं जब आदिवासी क्षेत्रों में गया, तो मैंने देखा कि वहाँ लोग मुद्दों पर केंद्रित बातचीत नहीं करते हैं, बल्कि आपस में गपशप करते हैं। ये ठीक वैसी ही बाते थीं जैसी मैं अपनी दादाजी से किया करता था जो उत्तर भारत के एक गाँव में किसान थे। आदिवासियों के बातचीत की तर्ज़, लय और बुनावट वैसी ही थी जैसे मैं अपने दादाजी या माँ के साथ होने वाली बातचीत में पाता था। जैसे मेरे बचपन और दादाजी के जीवन में बाज़ार से दूरी थी, वैसी ही मैंने आदिवासी की बातचीत और जीवन में भी देखी। इसलिए कुछ समय जैसा सव्यसाची कह रहे थे, आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी का भेद कृत्रिम रूप से बनाया गया है। मैं यह कहना चाहूँगा कि हर लोक समाज अपनी संवेदनशीलता में आदिवासी होता है। लोक और आदिवासी में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं है। और किसी अन्य शक्ति ने नहीं, बल्कि इसी ने इस देश को एक साथ जोड़कर रखा है। इसी ने बस्तर के आदिवासियों और ग़ैर-आदिवासियों को एक साथ जोड़कर रखा है। तो यह बाहरी और ग़ैर-बाहरी का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह उस मानस का मुद्दा है जो बाहरी आदमी को वहाँ लेकर जाता है। इसीलिए मैंने नब्बे के दशक का ज़िक्र किया। नब्बे के दशक में पहली बार बस्तर में बड़े पैमाने पर ऐसा हुआ, जब ऐसे ग़ैर-आदिवासी पहुँचे जिनका लक्ष्य ज़्यादा से ज़्यादा संसाधनों का दोहन करना और मुनाफ़ा कमाना था। हम इसमें सरकार, कॉरपोरेट और मीडिया सबको सम्मिलित कर सकते हैं। स्पष्टत: यह सारा मसला सुगठित और सुनियोजित ताक़तों से संबंधित है जो धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हर क्षेत्र से जुड़ी हुई हैं। इनमें से किसी के भी मन में बस्तर या आदिवासी की भलाई की चिंता नहीं है। और आदिवासियों को भी इनके साथ-साथ बदलना पड़ा। यदि आज के आदिवासी को बस्तर में जंगल काटने की छूट दे दें तो वह बहुत जल्दी में उन्हें काट कर साफ़ कर देगा। उसे ऐसे आर्थिक लालच की व्यवस्था से जोड़ दिया गया है कि या तो वह भी इसी तरह काम करने लगा है। वह भी अपने और अपने बच्चों के लिए ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाना चाहता है। इसलिए फिर वही बात सामने आती है जिसका ज़िक्र बातचीत के आरम्भ में अभय (खाखा) ने किया था कि यह सवाल आदिवासी का नहीं, बल्कि आदिवासियत का है। और आदिवासियत लोक समाजों का एक सहभागी मूल्य है, जो कि संसदीय या संवैधानिक मानस से अलग है।

नंदिनी सुंदर : मुझे नहीं लगता है कि सभी वे लोग जो बाहर से जाते हैं, एक समान होते हैं। और यह भी नहीं है कि जो वहाँ रहने वाले हैं वे भी एक समान हैं। बात सिर्फ़ आदिवासी और ग़ैर-आदिवासी की नहीं है। असल में, कुछ ग़ैर-आदिवासी ऐसे हैं जो काफ़ी पहले से वहाँ रह रहे हैं। वे मूल निवासी हैं, चाहे महतो हों, लोहार हों या म्हारा हों या जो भी हों। लेकिन कुछ अन्य लोग भी बाहर से आकर बसते हैं, जैसे उत्तर प्रदेश के ठाकुर बस्तर में आकर बस गये हैं, या सिख लोग आ गये हैं, या बंगाल से लोग आ गये हैं— और ये अपने रीति-रिवाज वहाँ थोपते हैं तो ये अलग श्रेणी के बाहरी लोग हो गये। इसलिए मूल निवासी चाहे वह आदिवासी हो या ग़ैर-आदिवासी हो— वह अलग है।

दूसरी बात है कि आप जब वनवासी कल्याण आश्रम, ईसाई मिशनरियों और माओवादियों की बात करते हैं तो उनमें भी हमें फ़र्क़ करना चाहिए। मुझे लगता है कि वनवासी कल्याण आश्रम और ईसाई मिशनरियों की तुलना करना एक तरह से ग़लत है। यह सच है कि वनवासी कल्याण आश्रम और ईसाई मिशनरी— दोनों ही लोगों का धर्म परिवर्तन करना चाह रहे हैं। लेकिन ईसाई मिशनरियों में हमें यह ध्यान रखना होगा कि पुराने कैथॅलिक धर्म-परिवर्तन नहीं कराते हैं, किंतु इवैंजिलिकल



सिर्फ़ मिशनरी और वनवासी कल्याण आश्रम ही नहीं है, बल्कि सरकार भी वहाँ एक बड़ी शक्ति है। जैसे स्कूल के माध्यम से बच्चों को सिखाया जाता है कि यह आपकी राष्ट्रभाषा है, यह आपकी संस्कृति होनी चाहिए, यदि आप दिवाली मनाएँगे तो आप सभ्य हो जाएँगे, यदि आप बीजा पुंटुम मनाएँगे तो आप असभ्य रहेंगे— यह आदिवासियों के विचार और सोचने की पद्धति को बदलने का माध्यम है।

मिशनरी (धर्मप्रचारवादी मिशनरी) ऐसा करते हैं जो इन इलाक़ों में बाद में पहुँचे हैं। कैथॅलिकों ने अपनी शिक्षण संस्थाओं या अस्पतालों आदि से धर्मांतरण को बढ़ावा नहीं दिया, लेकिन छोटे-छोटे इवैंजिलिकल चर्च ऐसा कर रहे हैं। वनवासी कल्याण आश्रम एक राजनीतिक संगठन है। यह एक धार्मिक संगठन नहीं है। लेकिन चूँकि वे धर्म को आधार बनाकर अपनी राजनीति करते हैं, तो वे उसके तहत आदिवासी को हिंदू कहने की कोशिश करते हैं। इसके साथ ही वे अपनी संस्कृति को, एक उत्तर भारतीय संस्कृति को वहाँ थोपने की कोशिश करते हैं। इसके कारण पुराने रीति-रिवाज जैसे सरना, करमा और बीजा पुंटुम आदि दबते जा रहे हैं और जिन्हें राष्ट्रीय त्योहार माना जाता है मसलन दिवाली, होली आदि उनका दबदबा बढ़ता जा रहा है। इसलिए मुझे यह लगता है कि हमें वनवासी कल्याण आश्रम और ईसाई मिशनरियों के काम में अंतर करना चाहिए तथा उनके विविध पहलुओं की समझ क़ायम करनी चाहिए।

लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि सिर्फ़ मिशनरी और वनवासी कल्याण आश्रम ही नहीं है, बल्कि सरकार भी वहाँ एक बड़ी शक्ति है। जैसे स्कूल के माध्यम से बच्चों को सिखाया जाता है कि यह आपकी राष्ट्रभाषा है, यह आपकी संस्कृति होनी चाहिए, यदि आप दिवाली मनाएँगे तो आप सभ्य हो जाएँगे, यदि आप बीजा पुंटुम मनाएँगे तो आप असभ्य रहेंगे— यह आदिवासियों के विचार और सोचने की पद्धति को बदलने का माध्यम है। अबूझमाड़ में सिर्फ़ वनवासी कल्याण आश्रम, मिशनरी या रामकृष्ण आश्रम वाले ही नहीं जा रहे हैं, बल्कि पूरे अबूझमाड़ में मज़दूरों के ठेकेदार बड़ी संख्या में घूम रहे हैं। वे यहाँ से आदिवासी मज़दूरों को तमिलनाडु, मुम्बई आदि स्थानों पर ले जाते हैं। इस तरह, आर्थिक प्रक्रियाओं से भी लोगों की संस्कृति में बदलाव आ रहा है। लोग नयी चीज़ें देख रहे हैं और अपना रहे हैं। तो, मुझे नहीं लगता कि हमें किसी एक संस्था या संगठन को अलग-थलग करके देखना चाहिए, बल्कि उसे सम्पूर्ण राजनीतिक-सामाजिक संरचना के विचार-क्रम में देखना चाहिए। हम यह भी नहीं कह सकते कि किसी मिशनरी या किसी संगठन को किसी विशेष क्षेत्र में जाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। हर किसी को यह हक़ होना चाहिए कि वह जहाँ चाहे जा कर अपने विचारों का प्रसार करे। अगर मुझे भी अपना विचार रखना है, तो मुझे ऐसा करने का पूरा हक़ है। लेकिन समस्या यह है कि आज सरकार यह तय कर रही है कि आदिवासी क्षेत्रों में कौन जाएगा और कौन नहीं जाएगा। वनवासी कल्याण आश्रम के लोगों को जाने की खुली छूट दी जाती है, और मेरे जैसे लोगों को बंधक बनाया जाता है। पत्रकार हो, या अकादमिक शोधकर्ता हों, हम वहाँ नहीं जा सकते। हमें पता भी नहीं चल सकता कि वहाँ क्या हो रहा है। ग़लती उन लोगों की है जिनको जाना चाहिए और जो नहीं जा रहे हैं। और 'लेफ़्ट' को किसने रोका है कि वे वहाँ जाकर स्कूल बनाएँ, या यह माँग रखें कि वहाँ स्कूल बनें और ठीक तरीक़े से काम करें। सबसे ज़्यादा दोष सरकार का है कि उन्होंने शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए बहुत कम प्रयास किया, तथा बाक़ी लोगों को आने का एक मौक़ा दिया। दूसरी कमी उन लोगों की है जिन्होंने कभी भी सीखने-सिखाने और काम करने की

एक प्रगतिशील संस्कृति को आगे बढ़ाने की कोशिश नहीं की। मुझे नहीं लगता कि किसी को सिर्फ़ सीखने की आवश्यकता है या सिर्फ़ सिखाने की ज़रूरत है। हम सबको एक दूसरे के साथ मानव के रूप में संवाद करने की आवश्यकता है। मेरे लिए मेरी आदिवासी बहनें भी महत्त्वपूर्ण हैं और दिल्ली वाली बहनें भी महत्त्वपूर्ण हैं। मुझे यह ठीक नहीं लगता है कि मैं कहूँ कि उनकी जो संस्कृति है, वे वैसी ही रहें और मेरी जो संस्कृति है मैं उसी के अनुसार रहूँ।

कमल : प्रोफ़ेसर सव्यसाची आपने यह कहा था कि मिशनरियाँ शिक्षा और स्वास्थ्य के बारे में बहुत कुछ करती हैं, या आदिवासियों से बहुत कुछ सीखती हैं, लेकिन क्या वे आपको इसके बारे में बताती हैं। कृपया आप इस बिंदु को थोड़ा और स्पष्ट करें।

सव्यसाची : मिशनरियाँ आदिवासियों से बहुत कुछ सीखती हैं। स्टैन लुडस्वामी करके एक ईसाई हैं जिन्होंने राँची के आस-पास बहुत काम किया है। उन्होंने आदिवासियों की परम्पराओं, जीवन-पद्धति, स्वास्थ्य आदि के लिए जितना काम किया है। मुझे नहीं लगता कि उतना काम किसी और ने किया है। रामदयाल मुण्डा ने भी उतना काम नहीं किया है जितना कि स्टैन लुडस्वामी ने किया है।

नंदिनी सुंदर : असल में, मैंने जशपुर में भी देखा कि वहाँ के चर्च के जो कर्मकाण्ड हैं, उन्हें आदिवासियों के स्थानीय कर्मकाण्डों के अनुसार ढाला गया है।

अभय खाखा : मैं इसी एक बिंदु पर ज़ोर देना चाहूँगा कि झारखण्ड में जितने भी बिशप हैं, सभी आदिवासी पारिवारिक पृष्ठभूमि से हैं। इसी तरह, आप पादरियों या धर्म-बहनों को भी देखें तो लगभग 90 प्रतिशत आदिवासी पृष्ठभूमि से हैं। चर्च ने यह नीति अपनाई जिसके कारण आदिवासी संस्कृति और चर्च की पद्धति के बीच एक 'ओवरलैप' (परस्परव्यापन) दिखता है। इसलिए हम देखते हैं कि जब भी ज़मीन के अधिकार की बात आती है या आदिवासी अधिकारों की बात आती है, तो चर्च के जो नेता हैं वे अगुआ की भूमिका में मिलते हैं।

सव्यसाची : मैं इसमें छोटी-सी बात जोड़ना चाहता हूँ। जो नंदिनी ने कहा कि समाज तो लेन-देन से बढ़ता है। लेकिन आप इस लेन-देन को सत्ता-संबंधों के संदर्भ में देखेंगे तो ये सारी भ्रांतियाँ सामने आ जाएँगी। अगर आप यह कहें कि स्टेन स्वामी का सारा काम ईसाई धर्म के लिए है या उससे जुड़ा हुआ है, तो यह बात सही नहीं है। और हम लोग यह ग़लती करते हैं कि संवैधानिक भाषा को अपनाकर यह जो लेन-देन की परम्परा है, उसे एकदम पतली कर देते हैं। यह बुरी बात नहीं है कि मैंने आदिवासियों से कुछ सीखा और उन्होंने मुझसे कुछ सीखा। लेकिन इसे सार्वजनिक दायरे में स्वीकार तो करना चाहिए कि आपने आदिवासियों से भी कुछ सीखा। एक जमाने में यह था कि मैं ही सबसे सही हूँ और आदिवासी ग़लत हैं। आज के जमाने में मानवशास्त्रियों आदि के काम सामने आ जाने के बाद कोई यह नहीं कह सकता है। इसलिए यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि दोनों ने एक-दूसरे से सीखा, और अगर नहीं लिखेंगे तो फिर दरारें पड़ेंगी। आपको संवैधानिक रूपरेखा की भाषा अपनानी है तो अपनाइए, लेकिन उसमें इतना मत ढल जाइए कि आप जो आपस में संवाद और लेन-देन करते रहे हैं, उसे ही भूल जाएँ। संविधान को भगवान का शब्द बनाने की आवश्यकता नहीं है। उसकी कमियों के बारे में हमें चर्चा करनी होगी, और उसमें सुधार करने का प्रयास करना होगा, अन्यथा वह भगवान का शब्द बन कर रह जाएगा। मेरा आग्रह यह है कि यदि हमें अपने आगे का विकल्प बनाने के लिए आदिवासी या दलित बंधुओं की सहायता लेनी है, तो

हमें संवैधानिक भाषा को छोड़कर आपस में आम जीवन की रोज़मर्रा की, लेन-देन की भाषा को सक्रिय करना होगा।

नंदिनी सुंदर : और, हम सब पत्थलगढ़ी आंदोलन से सीख रहे हैं कि संविधान की व्याख्या कैसे की जा सकती है। अब अगर लोग खुद संविधान की व्याख्या अपने लिए कर रहे हैं, तो हम यह बोलने वाले कौन होते हैं कि आप संविधान की बात नहीं कीजिए और अपनी संस्कृति में रहिए। वह जिस तरह से रहना चाहते हैं, उन्हें वैसे रहने की आज़ादी होनी चाहिए और हमें उनसे सीखना चाहिए कि चीज़ों की व्याख्या कैसे की जाए।

IV

विकास या विकास का आतंक?

कमल : इन सब मुद्दों के अलावा एक अन्य बड़ा मुद्दा है जिसके बारे में नरेंद्रजी ने विस्तार से बात रखी, लेकिन वह उसका एक सिरा था। मैं विकास के पूरे मॉडल की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इस मॉडल के चलते पहले से ही आदिवासियों को काफ़ी विस्थापन झेलना पड़ा है, लेकिन नब्बे के दशक के बाद वह हस्तक्षेप और ज़्यादा बढ़ा है। जिन्हें हम कॉरपोरेट जगत या निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ कह सकते हैं, वे बहुत ही तेज़ी से भारत सरकार, या छत्तीसगढ़ सरकार या झारखण्ड सरकार के सहयोग से आगे बढ़ी हैं। इससे विस्थापन में बढ़ोतरी हुई है और इसके ख़िलाफ़ संघर्ष भी बढ़ा है। हम कह सकते हैं कि शायद इससे माओवादियों को भी खुद को संगठित करने और अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने में मदद मिली है। मैं सवाल को इस रूप में रखना चाह रहा हूँ कि क्या अभी तक भारत की सरकार की जो विकास नीतियाँ रही हैं, उन्होंने माओवाद जैसे हिंसक आंदोलन को संगठित करने का आधार उपलब्ध कराया है। और जब ये आंदोलन सामने आये तो इनके दमन के लिए सरकार ने जो नीतियाँ अपनाईं, जैसे बस्तर में ही सलवा जुडूम का अभियान शुरू किया गया, और अभी भी जो कई तरह के हिंसक आंदोलन चल रहे हैं, क्या इन सबसे हमें एक लोकतांत्रिक समाज की ओर बढ़ने में मदद मिली है? और अगर नहीं मिली है, तो आप सब उसे किस रूप में देखते हैं। आख़िर आदिवासियों के लिए एक लोकतांत्रिक समाज या एक ज़्यादा बेहतर समाज की ओर बढ़ने के लिए क्या रास्ता हो सकता है।

सव्यसाची : देखिए, अगर विकास के मॉडल को केंद्र में रखकर बात करेंगे तो बात एक ही तरह की हो सकती है। वह सही है, ग़लत है या उसके अंदर क्या संशोधन हो सकता है या नहीं हो सकता है। मुझे लगता है कि विकास के मॉडल में भी बहुत सारे लोग जीते हैं, जिन तक वह नहीं पहुँचता है और जिन तक उसे पहुँचने में बहुत लम्बा अरसा लग जाता है। ये लोग अपने जीवन का किस तरह तजुरबा करते हैं, इसका विकास के मॉडल के साथ कभी तालमेल नहीं हुआ और न ही इसका ज़िक्र किया गया। जो विकल्प की बात होती है, वह विकास के मॉडल की शर्तों के आधार पर ही होती है। मेरा अनुमान यह है कि ख़ास तौर पर आदिवासी समाज के भीतर कई ऐसी परम्पराएँ हैं, उनके देखने के कई ऐसे नज़रिये हैं, जो विकास के मॉडल को छोड़ देने पर हमें साक्षात् रूप में नज़र आते हैं, और उनकी चर्चा विकास के मॉडल के साथ नहीं हो सकती है। इसका एक उदाहरण देता हूँ। मैंने एक लेख *सेमिनार* में लिखा था जो नंदिनी की किताब में भी छपा है। इसका शीर्षक है :

'टाइगर ऐंड द हनी बी'। उसकी एक छोटी-सी कहानी है जिसे मैं सुना देता हूँ। सरकार यह चाहती है कि जो वन्य जीव संरक्षण की बात है उसमें शेर सबसे ऊपर हों। वन्य जीव संरक्षण के लिए जितना भी काम होता है उसमें शेर या बाघ को सबसे ऊपर रखा जाता है और यह माना जाता है कि उसका एक 'कोर एरिया' होता है, एक 'बफ़र एरिया' होता है आदि। यह एक विकास का मॉडल है और अगर मैं इसके अनुसार विचार करूँ तो मैं इसी पर ध्यान दूँगा कि बाघ या शेर को कितना बचाया गया, कितने शेर या बाघ मर गये आदि। मैंने उस मॉडल को छोड़ कर वहाँ के खरिया लोगों से बातचीत की। उन्होंने मुझसे कहा कि शेर तो ऊपर हो ही नहीं सकता। उनका कहना है कि जंगल के भीतर एक बहुत अहम काम होता है, बारीक़ काम होता है; जंगल की एक रानी होती है और वह रानी होती है मधुमक्खी। शेर जंगल का चौकीदार है, वह राजा नहीं है। खरिया लोगों को मानना है कि अगर आप जंगल की हिफ़ाजत चाहते हैं तो आपको मधुमक्खी को पकड़ना चाहिए। और हर खरिया परिवार का एक अधिकार-क्षेत्र होता है। वह जंगल में वहाँ तक अपने लिए कुछ लेने जाता है जहाँ तक मधुमक्खी जाती है। हमारी भाषा में वह विकेंद्रीकृत या डिसेंट्रलाइज़्ड मॉडल है।

जब यह लेख छपा तो 'टाइगर लॉबी' मुझसे काफ़ी नाराज हो गयी। मुझे बाल्मीक थापर का फ़ोन आया कि यह आपने शेर या बाघ के बारे में क्या लिख दिया। मैंने उनसे कहा कि आप मुझे पैसा दीजिए, मैं सिमलीपाल जाकर पूरा मानवशास्त्रीय विवरण लिख कर आपको दूँगा कि मधुमक्खी और जंगल का क्या रिश्ता है। उन्होंने मुझे पैसा नहीं दिया!! दूसरी कहानी आपको सुनाता हूँ। ओडीशा में कोटिया लोग हैं। अपनी उत्पत्ति से जुड़े मिथक को वे सापंगाड़ा बोलते हैं, जिसका अर्थ है— जंगल के भीतर खुले हुए छोटे-छोटे स्थान। अगर आप इस कहानी को देखें तो यह विकास के मॉडल के अंदर फ़िट ही नहीं होती है। अगर हम अपनी भाषा में कहें तो इसमें जंगल के बारे में सिद्धांत (थियरी) है। जंगल एक छद्मावरण (कैमोफ़्लाज) है, जिसमें हर जीव, हर इंसान, भूत-प्रेत सबके लिए एक स्थान है। अंग्रेज़ी भाषा में कहा जा सकता है कि 'इट इज़ अ प्लेस ऑफ़ नॉन-जजमेंटल लिविंग' (एक ऐसा स्थान जिसमें रहने वाले जीवों के बारे में सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता)। लेकिन आप इसे विकास की भाषा में अभिव्यक्त कर ही नहीं सकते क्योंकि वहाँ एक सुनिश्चितता होती है। शृंगार-भूमि की कहानी क्या है? यह तिरुमुते की कहानी है जिसे धरती माता कहते हैं। वह पहाड़ पर बैठे हुए रो रही थी क्योंकि उसकी सारी ज़मीन बाढ़ से ग्रस्त थी। अब उन्होंने उस जंगल को एक रहने की जगह कैसे बनाया। यह जंगल के विस्तार से जुड़ा हुआ है जिसे 'विकास मॉडल' के अंतर्गत नहीं समझा जा सकता है। एक सचिव के साथ पेसा के बारे बातचीत चल रही थी। मैंने उनसे पारम्परिक अधिकारों की बात की, तो उन्होंने यह कहा कि हम तो इसे लागू कर ही नहीं सकते हैं क्योंकि जितनी एजेंसियाँ पैसे लेकर बैठी हैं हम उन्हें फिर कहाँ भेजेंगे? यह कोई बौद्धिक कारण नहीं था, बल्कि यह राजनीतिक-अर्थशास्त्र से जुड़ा कारण था। इसका मतलब यह भी है कि क़ानून में पारम्परिक अधिकार लिखने का कोई मतलब नहीं है। इसलिए यदि हमें खोजना है कि आदिवासी समाज ने अपने अनुभव से किस व्यवस्था को बनाया, और उनकी सूझ-बूझ और ज्ञान के व्यवस्था की समझ क़ायम करनी है तो हमें विकास के मॉडल को छोड़ना होगा।

अभय खाखा : 2012 में एक विदेशी विश्वविद्यालय बाथ युनिवर्सिटी ने यह शोध करने की कोशिश की कि किस तरह के व्यक्ति खुश रहते हैं। उन्हें दो जगह ऐसे समुदाय मिले एक थकिनिया में कोई समुदाय और दूसरा सरगुजा में पहाड़ी कोरबा। उनकी एक टीम आयी और मैंने भी उस टीम के साथ एक वर्ष तक काम किया। उन्होंने कई मापदण्डों के आधार पर यह समझने की कोशिश की कि पहाड़ी कोरबा लोगों की जीवन-शैली ऐसी क्यों है? पहाड़ी कोरबाओं की आर्थिक स्थिति ख़राब है, पैसे नहीं हैं, ज़्यादा शिक्षा-दीक्षा नहीं है, फिर ऐसी क्या चीज़ है जो उनको इतना खुश रखती है। वह एक

मनोवैज्ञानिक और सामाजिक शोध था, और इसमें उन्होंने यह खोजा कि ऐसे पहाड़ी कोरबा जिनकी पहुँच जंगल में महुआ के पेड़ों तक है (जंगल में महुआ के पेड़ भी परिवारों में बँटे रहते हैं), वे खुश हैं। पहाड़ी कोरबाओं के बीच बकरी की एक विशेष क़िस्म है, जो बहुत महँगी होती है और ईद जैसे त्योहारों में इसे लाखों में बेचा जाता है। तो जिनके पास इस तरह के जानवर थे, वे भी काफ़ी खुश थे। ये यह भी मानते हैं कि पूर्वजों के साथ संबंध उनके जीवन की खुशी को प्रभावित करता है। पूर्वजों के साथ अच्छा संबंध तय करने का उनका अपना तरीक़ा है। लेकिन वे मानते हैं कि जिसका संबंध अपने पूर्वजों की आत्मा के साथ अच्छा होता है उसके जीवन में ख़ुशहाली होती है। यह देखा गया कि पहाड़ी कोरबा महिलाओं में वे ज़्यादा खुश हैं जिनकी उनके घर में पूछ होती है या गाँव की पंचायत में जिनकी बातें मानी जाती हैं। जिन-जिन परिवारों में ऐसी स्थिति थी, वहाँ खुशी और समृद्धि ज़्यादा थी।

लेकिन आज जो कुछ हो रहा है वह विकास का मॉडल नहीं है, बल्कि विकास का आतंकवाद है। मैं झारखण्ड में आदिवासी उप-योजना पर काम करता हूँ, जिसके अंतर्गत आदिवासियों के कल्याण के लिए विशेष राशि का आबंटन किया जाता है। झारखण्ड में आदिवासी उप-योजना की सबसे बड़ी राशि यानी करीब चार हज़ार करोड़ रुपया सिर्फ़ हाईवे या राजमार्ग बनाने में ख़र्च होती है। ये ऐसे हाईवे खनन क्षेत्रों तक जाते हैं और उनकी हालत हमेशा ख़राब रहती है तथा दुर्घटना का डर बना रहता है। रायगढ़ जैसे इलाक़ों में खनन क्षेत्रों से आने वाले ट्रक तक़रीबन रोज़ ही सड़क दुर्घटना करते हैं जिससे लोगों की जान जाती है। आदिवासी उप-योजना के उपयोग की स्थिति यह है कि पाँच वर्ष पहले जो झारखण्ड के मुख्यमंत्री के लिए हेलीकॉप्टर ख़रीदा गया, वह भी आदिवासी उप-योजना के पैसे से ख़रीदा गया। उप-योजना के पैसे से जेलों की दीवारें उँची की जा रही हैं। सरकारी कर्मचारियों के आवास उप-योजना के पैसे से बन रहे हैं। वहीं स्कूल, विद्यार्थियों के लिए हॉस्टल आदि के लिए आदिवासी उप-योजना के पैसे का उपयोग नहीं हो रहा है। इसलिए विकास के नाम पर संसाधनों की बर्बादी या लूट हो रही है। आज आप झारखण्ड में जाएँगे तो देखेंगे कि सड़कें बिना सीआरपीएफ़ के नहीं बन सकती हैं। सड़क बनाने जैसे काम में भी इतनी दहशत है कि सीआरपीएफ़ की एक पूरी टुकड़ी लगती है। या जो ट्रक बोरिंग खोदने के लिए जाते हैं, वे तब तक आगे नहीं जाते हैं जब तक पुलिस की सुरक्षा न हो, क्योंकि उन्हें डर होता है कि माओवादी ट्रक को जला सकते हैं।

एक तरह से लोगों का जबरिया या बिना उनकी सहमति के विकास किया जा रहा है। वैसे झारखण्ड के लातेहार और अन्य क्षेत्रों में कुछ अच्छे प्रयास भी हो रहे हैं। ख़ास तौर पर, प्रोफ़ेसर ज्याँ द्रेज़ और उनका दल वहाँ अच्छा काम कर रहा है। यहाँ मनरेगा के माध्यम से अच्छे काम हुए हैं। पंचायत स्तर पर आम बाग़वानी या मछली पालन जैसी योजनाओं को लागू किया गया है। गाँव की महिलाओं को बैठा कर कहा जाता है कि आप गाँव के विकास की योजना बनाइए। और वे बताती हैं कि उनके लिहाज़ से गाँव के विकास की सही योजना क्या हो सकती है। तो ऐसे छोटे-छोटे अच्छे प्रयास हो रहे हैं, किंतु ये सभी ग़ैर-सरकारी स्तर पर हैं। अब एक हाइवे व्यवस्था आ गयी है। इस बुलडोज़र ने आदिवासी इलाक़ों में पिछले कुछ सालों में जितना तहस-नहस किया है, उसका वर्णन करना मुश्किल है। इसमें बिना मज़दूर के ही गड्ढ़ा खोदने जैसा काम हो जाता है। यह ऐसी व्यवस्था है जिससे हवाई जहाज़ से उतरे लोग तुरंत सड़क बना कर भाग जाएँगे। अगर हम नज़दीक जाकर देखें तो पाएँगे कि एक तरह से विकास का सर्कस नाकाम हो चुका है। जमशेदपुर जो देश के सबसे पुराने औद्योगिक संस्थानों में से एक है, आज बहुत कुछ नया नहीं कर पा रहा है। लोग अब वापिस गाँव की ओर जा रहे हैं। पहले आदिवासियों का एक तबक़ा शहरों की ओर आ रहा था किंतु अब वह शहर से थक चुका है और वह वापस अपने गाँव में जाकर कुछ करने की कोशिश कर रहा है।

दूसरी बात यह है कि हमने यह कोशिश की है कि इस बात को समझें कि जो विभिन्न आंदोलन

खड़े हो रहे हैं उनमें किस तरह के लोग शामिल हो रहे हैं। झारखण्ड के संदर्भ में मैं यह कह सकता हूँ कि आदिवासियों का एक समूह, जिसे बूर्ज्वा तो नहीं किंतु सम्भ्रांत कहा जा सकता है, अब गाँवों की ओर वापस जा रहा है। दूसरा, आरक्षण आदि के कारण एक वर्ग के पास सरकारी नौकरी है, भले ही वह तीसरे और चौथे दर्जे की नौकरी हो। यह वर्ग भी अब गाँवों में है। तीसरा, हम आदिवासी समाज में एक तरह का सांस्कृतिक पुनर्जागरण देख रहे हैं। कई सारी आदिवासी संस्थाएँ जो विलुप्त हो चुकी थीं, अब उन्हें एक योजना के साथ जगाया जा रहा है। लोग पुरानी सांस्कृतिक चीज़ों को बहुत ही ध्यान से पुनर्जाग्रत करने की कोशिश कर रहे हैं। सरहुल पर्व जो पहले कुछ ग्रामीण आदिवासी क्षेत्रों तक सीमित था, अब उसे राँची में बड़े धूमधाम से बनाया जाता है। एक तरह से इसे रामनवमी जितने धूमधाम से ही मनाया जाता है। नौ अगस्त को विश्व आदिवासी दिवस पूरे देश के आदिवासियों को एकजुट करने का काम कर रहा है। दिल्ली में भी आदिवासियों ने कई स्थानों पर कार्यक्रमों का आयोजन किया। मसलन, दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया था। इसी तरह कई अन्य स्थानों पर भी गोष्ठियों का आयोजन किया गया था। इस प्रकार सांस्कृतिक पुनर्जागरण से संबंधित कई तरह के कार्यक्रम हो रहे हैं। एक अखिल भारतीय आदिवासी पहचान बनाने की कोशिश की जा रही है। गुजरात के राजपीपला में हर साल 3-4 लाख आदिवासी एकत्रित होते हैं और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से अपनी संस्कृति और विविधता को प्रदर्शित करते हैं। इसी तरह से पूर्वोत्तर में 'हार्नबिल फेस्टिवल' होता है, और यह छोटे-छोटे स्तर पर कई स्थानों पर मनाया जा रहा है। लोग झारखण्ड में भी इसका आयोजन कर रहे हैं। झारखण्ड जयपाल सिंह मुण्डा के 'नाची से बाची' (जो नाचेगा, वह बचेगा) रणनीति का उपयोग करते हुए पारम्परिक नाच-गाने का सांस्कृतिक पुनर्जागरण के स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। ऐसे कार्यक्रमों में आदिवासी समुदाय आते हैं, नाचते हैं और उसके बाद अपनी जो बात कहनी होती है, वह कहते हैं।

हम जानते हैं कि नेतरहाट आदिवासियों के संघर्ष का एक प्रमुख केंद्र रहा है जहाँ 'फ़ील्ड फ़ायरिंग रेंज' दो से भी ज़्यादा गाँवों को विस्थापित कर रहा था, और आदिवासियों ने इसका प्रतिरोध किया था। महिलाओं और युवाओं ने मिलकर इस परियोजना को रोका था। टुटवाकानी में हर साल लोग एकत्रित होते हैं और जागरण करते हैं कि हमने यह लड़ाई जीती है तथा पिछले 24 साल से हमने भारतीय सेना को नेतरहाट में नहीं घुसने दिया है। वे अपनी इस जीत को यादगार बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इसी में हमें पत्थलगढ़ी आंदोलन को भी देखना होगा। इस तरह, आदिवासी समाज में निचले स्तर पर बहुत सारी चीज़ें हो रही हैं तथा नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं मसलन, दलितों के साथ मिलकर आंदोलन को किस तरह मजबूत किया जाए। कहीं भाषा को लेकर मंच बनाए जा रहे हैं। बहुत से स्थानों पर जनगणना में 'सरना कोड' की माँग की जा रही है अर्थात् जनगणना में आदिवासियों की अलग से गणना नहीं होती है, उन्हें हिंदू या अन्य में गिन लिया जाता है। इसलिए यह माँग की जा रही है कि आदिवासियों के लिए सरना कोड या अलग श्रेणी बने। मैं कहूँगा कि आदिवासियत के नाम पर एक गठजोड़ बन रहा है, जो कि एक बड़ी बात है। इसीलिए सरकार और ज़मीन लेने वाले या विस्थापन कराने वाले डरे हुए हैं और इसी डर के कारण जनांदोलन वालों को, पत्रकारों और शिक्षाविदों को नक्सली घोषित कर दिया जाता है। असल में, समाज में जो नये तरह के जो गठजोड़ बन रहे हैं उन्हें तोड़ने के लिए तमाम तरह की कोशिशें की जा रही हैं। अब एक अंतर यह भी आया है कि जहाँ पहले आदिवासी सम्भ्रांत वर्ग आम आदिवासियों के मसलों को लेकर उदासीन था, वहीं अब इस वर्ग से जुड़े कई एक्टिविस्ट मसलन ग्लैडसन डुंगडुंग और सुनील मिंज आदि राष्ट्रीय स्तर पर ज़मीन और आदिवासियों के मसलों को उठा रहे हैं। यह कहा जा सकता है कि सम्भ्रांत आदिवासी ऐसे संघर्षों में बढ़-चढ़ कर जुड़ रहे हैं। आदिवासी समाज और जनांदोलनों को समझने के लिए हमें इन सभी चीज़ों को जोड़कर देखने की आवश्यकता है।



नरेंद्र बस्तर : देखिए, विकास का मॉडल क्या हो, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिस समाज में विकास किया जाना है वह कितना संगठित है। एक अव्यवस्थित समाज में उस तरह विकास मुमकिन नहीं हैं। तो उसे व्यवस्थित किया जाना चाहिए ताकि विकास हो सके, भले इसके लिए कोई भी मॉडल अपनाया जाए। आदिवासी समाज को, और मैं कहूँगा कि हर प्रकार के लोक समाज के अत्यधिक संगठित होने से बड़ी समस्या रही है। जब ये समाज अत्यधिक संगठित हो गये तो विकास सहज स्वाभाविक रूप से आने लगा। हम देखते हैं कि हमारे गाँव के जो स्कूल होते हैं उन्हें अविकसित गाँव का अविकसित स्कूल माना जाता है। इस पर मैंने एक नोट भी लिखा है, कभी मौक़ा मिला तो आपको दिखाऊँगा। मैंने दिखाया है कि एक दो कमरे का एक स्कूल है, वह प्राथमिक स्कूल भी हो सकता है या माध्यमिक भी। उसके चारों ओर बाड़े हैं। वह स्कूल देखने में उतना ही अव्यवस्थित दिख रहा है जितना की गाँव लगता है। स्कूल के अहाते में पेड़ हैं, झाड़ी हैं, पत्थर हैं, उसके दरवाज़े टूटे हुए हैं, उसकी खिड़कियाँ टूटी हुई हैं। इसलिए हम उसको अच्छा स्कूल नहीं मानते। इसमें बच्चे पढ़ रह रहे हैं, गुरुजी पहाड़ा पढ़ा रहे हैं। चूँकि खिड़की टूटी हुई है तो एक खिड़की से बिल्ली आती है और दूसरी खिड़की से कूद कर बाहर चली जाती है। पीछे-पीछे कुत्ता भी आता है। यूँ ही कूदता है और भाग जाता है। इस बीच शिक्षक के पहाड़े चल रहे हैं। कुछ बच्चे कुत्ते के पीछे भाग जाते हैं। कुछ देर में वे बच्चे वापस आ जाते हैं, उनके पीछे कुत्ता भी आ जाता है और कक्षा में बैठ जाता है, और शिक्षक द्वारा अभी भी पहाड़े पढ़ाए जा रहे हैं। चूँकि कक्षा का प्लास्टर झड़ा हुआ है, उसमें कहीं चिड़िया ने घोंसला बना लिया है। लेकिन हम इसको व्यवस्थित स्कूल नहीं मानते हैं। इसको हम शिक्षा भी नहीं मानते हैं।

इस गाँव से तीन सौ या साढ़े तीन सौ किलोमीटर दूर छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले में ठरगा बेहरा नाम का एक गाँव है। जब मैं वहाँ पहली बार गया तो वहाँ का प्राथमिक विद्यालय दिखा। चूँकि वह गाँव थोड़ा-सा विकसित गाँव की श्रेणी में आ जाता था, इसलिए उसके दरवाज़े वग़ैरह और प्राथमिक विद्यालय का बोर्ड भी लगा था। दरवाज़े बंद थे और बच्चे एक पेड़ के नीचे बैठकर पढ़ रहे थे और मास्टर पढ़ा रहे थे। मैंने गाँव वालों से पूछा कि स्कूल तो है, तो फिर बच्चे बाहर पेड़ के नीचे क्यों पढ़ रहे हैं? उन्होंने कहा कि नहीं साहब, हम तो इसमें गाय-बैल को रखते हैं तो 'मरखाने' (मारने वाले) होते हैं, तो यह सज़ा है यह स्कूल थोड़े ही है; बच्चों को पढ़ना है तो उन्हें खुले वातावरण में पढ़ना चाहिए न, ये क्या कि सीमेंट-विमेंट की बिल्डिंग खड़ी कर दी। इसमें तो हम अपने बच्चों को कभी न पढ़ाएँ। इसलिए मुझे लगता है कि कोई समाज अत्यधिक संगठित नहीं होना चाहता है, वह संगठित होना चाहता है, पर अत्यधिक नहीं। मैं तो कहूँगा कि ग्रामीण समाज के अत्यधिक संगठित होने की प्रक्रिया हरित क्रांति के बाद आरम्भ हुई, जब चीज़ें एक अलग प्रकार की दिशा में जाने लगीं। लेकिन इस विकास के मॉडल से कुछ होने वाला नहीं है, हम इसमें थोड़ा बहुत सुधार कर सकते हैं लेकिन इसे बिल्कुल नवीन दिशा में नहीं ले जा सकते क्योंकि यह अत्यधिक संगठन की माँग करता है, किंतु अत्यधिक संगठित होना आदिवासी और लोक समाजों के लिए सहज नहीं है। अस्सी के दशक के मध्य में बस्तर में एक आवास योजना आयी थी। इसमें कुछ पैसा भारत

सरकार का था और कुछ पैसा विश्व बैंक का था। इसमें सड़क किनारे के गाँवों में यह प्रचार होने लगा कि सबको 25-25 गज़ ज़मीन मिलेगी, और घर बनाने में सब्सिडी भी मिलेगी। इसलिए जो चाहे वह घर बना सकता है। यह योजना सड़क के किनारे के गाँवों तक ही सीमित रही क्योंकि कोई सरकारी अधिकारी अंदरूनी गाँवों में जाने के लिए तैयार नहीं था। इसमें यह कहा गया कि सब्सिडी तब मिलेगी, जब आप घर में टॉयलेट या शौचालय बनवाएँगे। तो यह स्वच्छ भारत वग़ैरह अभी नहीं आये हैं, ये सब उस समय भी थे। सरकारी कर्मचारियों द्वारा पहले से ही 25 गज़ में शौचालय का स्थान मुकर्रर कर दिया जाता था, जब लोग इस योजना में भागीदारी के लिए तैयार होते थे तो घर का निर्माण शुरू हो जाता था। लेकिन उस समाज में जब भी किसी नये घर का निर्माण होता था, तो परम्परा यह थी कि पहले पुरखों का स्थान तय किया जाएगा। अब चूँकि कुल जगह 25 गज़ ही थी, इसलिए पुरखों को निष्कासित कर दिया गया। इससे एक समाज का विस्थापन होने लगा। यह एक अलग कहानी है कि चूँकि शौचालय के साथ निकास की सही व्यवस्था नहीं बनाई गयी तो, उसका पानी गलियों में बहने लगा, इससे कई बिमारियाँ फैलीं और उन्होंने बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों के लिए आधार तैयार किया। मैं यहाँ इस विवरण में नहीं जाना चाहता। मैं यह कहना चाहता हूँ कि अगर एक समाज को विकसित करना है तो उसको अत्यधिक संगठित करना पड़ेगा, ऐसी व्यवस्था बनानी पड़ेगी जिससे वह समाज अपनी सहजवृत्ति से दूर हो। उसका अपनी परम्परा, अपने लैण्डस्केप, अपने पुराने स्वरूप से कोई रिश्ता न हो। इस तरह से बदल चुका आदिवासी, न तो आदिवासी रहता है और न ही कुछ और बन पाता है।

नंदिनी सुंदर : मैं इस पर अन्य लोगों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से सहमत हूँ। मुझे अलग से कुछ नहीं जोड़ना है।

V

आदिवासी-अध्ययन का प्रश्न

कमल : अब मैं इस परिसंवाद का आख़िरी प्रश्न रखना चाहता हूँ, जो दो स्तरों पर है। एक तो अभय (खाखा) की बात शुरू में आ रहा था कि आदिवासी क्षेत्रों में काफ़ी कुछ ऐसे समूह हैं, जिन्हें बड़ी आदिवासी श्रेणी के भीतर अल्पसंख्यक समूह मान सकते हैं। मेरा प्रश्न यह है कि क्या आदिवासियों के बीच महिलाओं के प्रश्न को ले कर कोई उथल-पुथल हो रही है, या जो छोटे समूह हैं उनके भीतर कोई गोलबंदी हो रही है कि हमारे हक़ या अधिकार की बात होनी चाहिए। जैसे कि हम दूसरी कई श्रेणियों के भीतर इस तरह की परिघटना देखते हैं। मसलन, दलितों के भीतर उत्तर प्रदेश में एक उथल-पुथल हो रही है जिसमें एक बड़ी जाति जाटव के बरअक्स अन्य छोटी दलित जातियाँ गोलबंद हो रही हैं। इसी तरह हम अन्य पिछड़ी वर्गों (ओबीसी) के भीतर अत्यंत पिछड़े वर्गों (ईबीसी) की अवधारणा का उभार देखते हैं। मेरा यह प्रश्न सिर्फ़ चुनावी राजनीति को लेकर नहीं है। इसमें महिलाओं और दूसरे समूहों की स्थिति को विविध तरह के आयामों को देखा जा सकता है। मेरे प्रश्न का दूसरा पहलू यह है कि यदि नये शोधार्थी या हममें से कुछ लोग आदिवासी अध्ययन (ट्राइबल स्टडीज़) में शोध करना चाहें, तो किन नये विषयों पर अध्ययन किया जा सकता है, जिन पर अमूमन ध्यान नहीं दिया गया है, या जिसकी उपेक्षा की जाती है।

सव्यसाची : यह मुश्किल सवाल है जिसका छोटे में जवाब देना कठिन है। लेकिन मैं आपको यह कहूँगा कि इस सवाल के पीछे दो तरह की धारणाएँ हो सकती हैं। एक तो, क्या आप इस दृष्टिकोण से पूछ रहे हैं कि क्या यह उथल-पुथल मुख्यधारा में आरम्भ होने के बाद शुरू हुई, या आप यह पूछ रहे हैं कि आदिवासी समाज के भीतर कुछ ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिसमें आदिवासी अपनी स्थिति पर विचार कर रहे हैं और खुद में सुधार लाने की कोशिश कर रहे हैं। आप किस दृष्टिकोण से यह प्रश्न कर रहे हैं?

कमल : मेरा प्रश्न दूसरे दृष्टिकोण से संबंधित है।

सव्यसाची : अच्छा! सोनेपुर गाँव के अंदर एक दिन भौगोलिक सर्वे करने के लिए सरकारी अफ़सर आये। इस गाँव और इसके पास के गाँव बेछा का मुखिया सरकारी अफ़सर के पास गया। इस अफ़सर ने दो खूँटे गाड़ दिये और फिर उसके आधार पर उन दोनों मुखियाओं से कहा कि यह आपके गाँव की सीमा है। लेकिन जिस तरह से खूँटा गाड़ा गया, उससे एक गाँव की 25-30 एकड़ ज़मीन दूसरे गाँव में चली गयी। इससे एक तरह का विवाद पैदा हो गया। लेकिन दोनों गाँव के मुखिया ये बोले कि ये हमारा आपस का मामला है और हम इसे सुलझा लेंगे। इसमें सरकारी अधिकारी को दख़ल देने की कोई आवश्यकता नहीं है। सवाल मेरे सामने यह था कि उन्होंने किस तरह इस न्याय प्रणाली को अपने यहाँ लागू किया। पहले तो यादें ताजा की गयीं कि हमारे दादा ने ऐसा किया था, मेरे परदादा ने वहाँ खेती की थी आदि। लेकिन इससे कोई निर्णय नहीं हो पाया तो उन्होंने एक सेहरा को बिठाया, जो एक तरह से पंच हो गया। वहाँ के बुजुर्गों ने उससे यह पूछना आरम्भ किया कि क्या कभी पहले ऐसा क़िस्सा हुआ था, जिसके आधार पर हम समझ सकें कि इस मसले का निर्णय कैसे करना है। तो उसने कहा कि ऐसा पहले हुआ था जब दो गाँवों के बीच ज़मीन की सीमा को लेकर झगड़ा हुआ था। मामले को निपटाने के लिए उन्होंने कहा कि दोनों गाँव के मुखिया मिट्टी को खाएँ, जो सच बोलता है उसे मिट्टी हज़म हो जाएगी, और जो सच नहीं बोलता है उसकी मौत हो जाएगी या उल्टी कर देगा।

उन्होंने ऐसा ही किया और यह तय हो गया कि यह ज़मीन किसकी है या किसकी नहीं है। यह एक छोटा-सा उदाहरण है, यदि इसका गहराई से अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि एक आदिवासी समाज के भीतर अपनी ग़लतियों को सुधारने की, अपने समाज की त्रुटियों को दूर करने की कितनी क्षमता है। यह अध्ययन नहीं हुआ है कि आदिवासियों की न्याय व्यवस्था क्या है। इस पर कोई सोच नहीं है। हिंदुस्तान में तो बिल्कुल ही नहीं है। हिंदुस्तान के अंदर हमारे पास किसी आदिवासी समाज की एथ्नोग्राफ़ी (मानवशास्त्रीय-अध्ययन) नहीं है। आप एथ्नोग्राफ़ी की मदद से ही प्रामाणिक रूप से यह बता सकते हैं कि एक समाज के भीतर किस तरह की व्यवस्था, परम्पराएँ और सांस्कृतिक मूल्य आदि हैं। और मुझे लगता है कि इस पर शोध नहीं होना चाहिए। निश्चित रूप से, आदिवासी समाज में अपनी स्थिति पर चिंतन करने और सुधार करने की क्षमता है। महिलाओं की स्थिति के संबंध में वहाँ कई चिंताजनक बातें हैं। झगड़ा होने पर महिलाओं को घर से बाहर नहीं निकालते हैं बल्कि सूअर के पिंजड़े जैसी छोटी जगह पर उन्हें क़ैद कर देते हैं। ऐसे कई परिवर्तन हुए हैं जिससे लगता है कि समाज अब पितृसत्ता की ओर बढ़ा है। जो अबूझमाड़ के अंदरूनी गाँव हैं, वहाँ मासिक आने पर महिला को घर से बाहर जाकर जंगलों में घूमना पड़ता है। लेकिन इस मसले पर गाँव के भीतर विरोध है। भूमकाल बैठता है, और इस मसले पर चर्चा करता है। महिलाएँ भी आती हैं और बोलती हैं। हमारे समाज में जिस तरह महिलाओं को बोलने का अधिकार है, वैसा ही हक़ आदिवासी समाज में भी है, बल्कि इससे ज़्यादा ही है। जैसे-जैसे आप पितृसत्ता की तरफ़ बढ़ते हैं, जैसे-जैसे

आप भूमि अधिकारों की तरफ़ बढ़ते हैं, जैसे-जैसे आप मालिकाना हक़ की तरफ़ बढ़ते हैं यानी जैसे-जैसे आपके दिमाग़ में नाम के हस्तांतरण, सम्पत्ति के हस्तांतरण, और भूमि के स्थानांतरण की बात आ जाती है, और यह कहा जाता है कि ये ही पहचान या अस्मिता को परिभाषित करती हैं तो सारी भ्रांतियाँ पैदा हो जाती हैं।

अभय खाखा : जैसा कि मैंने पहले प्रश्न के उत्तर में कहा था कि हम देख रहे हैं कि पूरे देश में आदिवासी नागरिक अधिकारों को ले कर काफ़ी उथल-पुथल चल रही है। लेकिन बहुत से ऐसे छोटे आदिवासी समुदाय हैं जो दशकों से संघर्ष कर रहे हैं किंतु उन्हें उनके नागरिक अधिकार नहीं मिले हैं। मसलन, इस संदर्भ में असम के चाय बगानों में काम करने वाले आदिवासी समुदायों का उल्लेख किया जा सकता है। वे काफ़ी समय से संघर्ष कर रहे हैं कि उन्हें उनके नागरिक अधिकार मिलें ताकि वे अपने जीवन जीने के लिए कुछ भू-अधिकार या साधन हासिल कर पाएँ लेकिन वे अभी तक अपने नागरिक अधिकार हासिल नहीं कर पाए हैं और उन्हें हर तरह की उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। इसी तरह, की उपेक्षा का सामना उन आदिवासी बहनों को भी करना पड़ता है जो पलायन करके शहरों में आयी हैं। इनकी समस्याएँ बहुत-सी हैं। चूँकि हम आदिवासियों के मुद्दों को अकसर मुख्य रूप से जल, जंगल ज़मीन से ही जोड़ कर देखते हैं, इसलिए इनके मुद्दे छूट जाते हैं। आदिवासी समुदाय के इस प्रकार के समूहों की बातें ज़्यादा सामने आनी चाहिए।

जहाँ तक आदिवासी अध्ययन की बात है, मुझे लगता है कि आदिवासी अध्ययन बहुत हो चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि 'दिकू अध्ययन' किया जाए। दिकू का अर्थ ग़ैर-आदिवासी नहीं है, बल्कि ये वे समुदाय हैं जिनसे आदिवासी समुदाय अपनी पहचान अलग देखता है या जिनकी पहचान के विपरीत आदिवासी समुदाय अपनी पहचान बनाता है। झारखण्ड में आदिवासी समुदायों के बीच दिकू एक प्रचलित शब्द है। पूर्वोत्तर में ऐसे समुदायों को मयांग कहा जाता है, यानी ये ऐसे समुदाय होते हैं जो वहाँ के आदिवासियों के मूल्यों के विपरीत होते हैं। देश के अन्य भागों में भी आदिवासी अपने संस्कृति से विपरीत समुदायों को अलग-अलग नाम देते हैं। अब समय आ गया है कि यह देखा जाए कि विपरीत पहचान वाले ये समुदाय कौन हैं, तथा उनकी संस्कृति और उनके काम-काज किस तरह आदिवासी समुदायों पर प्रभाव डाल रहे हैं। इसलिए अब मुझे लगता है कि दिकू अध्ययन पर ज़ोर दिया जाना चाहिए। मैं इस दिकू अध्ययन की पूरी रूपरेखा तो अभी नहीं दे पाऊँगा, लेकिन यह अवश्य है कि दिकू पहचान, आदिवासी संस्कृति, मूल्यों और संघर्ष को गहरे रूप से प्रभावित कर रही है। इसलिए इसका अध्ययन करने पर हम आदिवासी मामलों की ज़्यादा बेहतर समझ बना सकेंगे।

नरेंद्र बस्तर : यह आपने (अभय खाखा ने) बिल्कुल सही कहा कि बाहरी समाज का अध्ययन करने की आवश्यकता है। यह बाहरी समाज अपना अध्ययन कर रहा है, लेकिन अपनी शर्तों पर। इसलिए इस प्रकार का अध्ययन आदिवासियों की शर्तों पर भी होना चाहिए। मुझे लगता है कि नये अध्ययन को दो मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए : एक, स्थानीय बोली पर, उस बोली में आदिवासी समाज और बाहरी समाज कैसा दिखता है। मेरी भाषा में वह अलग दिखता है, इसलिए उस बोली की पहचान होना ज़रूरी है। और दूसरा, वहाँ का लैण्डस्केप (भू-दृश्य) कैसा है। हालाँकि मैं अपनी हिंदी को बुरी नहीं मानता किंतु आज भी मुझे हिंदी में लैण्डस्केप के लिए कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिल पाया। लोगों का लैण्डस्केप से रिश्ता टूट गया। इसका एक कारण यह था कि लैण्डस्केप ही टूट गया। या फिर वह अपनी बोली छोड़ कर मेरे जैसी भाषा में आ गया तो लैण्डस्केप भी स्रोत बन गया। तो, मुझे लगता है कि इन दो नये मुद्दों पर नये अनुसंधान को ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

नंदिनी सुंदर : बहुत सारे मसलों पर शोध करने की आवश्यकता है। भाषा है, लैण्डस्केप है, न्याय व्यवस्था है। इसके अलावा, जो पुराने अध्ययन हुए हैं, उनमें और अभी की स्थिति क्या है, उनमें तुलना करने की आवश्यकता है। मसलन, आप पचास के दशक में हुए एक अध्ययन को लीजिए। उसमें गाँव और वहाँ के लोगों के जो ज़मीन थी, उसे आज की स्थिति में फिर से देखने और तुलनात्मक अध्ययन करने की आवश्यकता है। मुद्दे तो बहुत हैं, पर करने वाले, ख़ासतौर पर अच्छे से करने वाले बहुत कम लोग हैं। ऐसे आदिवासी विद्यार्थी नहीं हैं जो अपने समाज पर काम कर सकें। जैसे अभय (खाखा) कह रहे थे कि भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) में मुख्य रूप से मीणा लोग, पूर्वोत्तर के लोग और उराँव लोग जाते हैं, लेकिन सच यह भी है कि पीएचडी करने वालों में भी मुख्य रूप इन्हीं समूहों के लोग हैं। शेष समुदायों के बहुत कम लोग हैं, केरल में शायद कुछ अन्य आदिवासी समुदायों के लोग काम कर रहे होंगे। हम विश्वविद्यालयों में लोगों को जोड़ने, और इन मुद्दों में रुचि पैदा करने में पूरी तरह नाकाम हो रहे हैं। मुझे लगता है कि इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

कमल : हमने विभिन्न मुद्दों पर विस्तार से काफ़ी गम्भीर चर्चा की। मैंने जो प्रश्न तैयार किये थे, वे कुछ हद तक सीधे प्रश्न थे, लेकिन उससे जो अलग-अलग तरह जवाब आये, उन्होंने विषय से जुड़ी विविध परतों को सामने रखा। जब मैंने प्रश्न तैयार किये तो मेरी सोच इन पहलुओं तक नहीं जाती थी। इस लिहाज़ से जब यह पूरी परिचर्चा प्रकाशित होगी तो पाठकों के लिए भी काफ़ी उपयोगी रहेगी। मुझे लगता है कि इस चर्चा से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह सामने आयी कि चाहे क़ानून हों, या संविधान द्वारा बनाई गयी श्रेणियाँ हों, या तथाकथित मुख्यधारा के लोगों द्वारा तैयार किया गया विकास का मॉडल हो, जिसे अभय (खाखा) ने विकास का आतंकवाद कहा— इन सबने आदिवासी समाज में अत्यंत गम्भीर और दुरूह जटिलताएँ पैदा की हैं, और इन सभी पहलुओं पर स्थापित प्रतिमानों से अलग हट कर विचार करने की आवश्यकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि पिछले कुछ दशकों में आदिवासी क्षेत्रों का सैन्यीकरण बढ़ा है और अब यह आदिवासी क्षेत्रों से गुज़रता हुआ 'मुख्यधारा' के समाज में आ चुका है। इसलिए इन सब प्रवृत्तियों की शिनाख़्त करने के साथ यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि आदिवासी समाज अपने लिए यह तय कर पाए कि उसके लिए अच्छा क्या है। और निश्चित रूप से यह एक उपदेशात्मक वाक्य लग सकता है कि हिंसा नहीं होनी चाहिए, लेकिन कोशिश यही होनी चाहिए कि जो हिंसक गतिविधियाँ हैं चाहे वे राज्य की तरफ़ से हो या माओवादियों की तरफ़ से हो, उन पर रोक लगे। साथ ही, आदिवासी समाज अपनी ज़िंदगी जैसे जीना चाहता है, चाहे वह आधुनिकता की ओर बढ़ना चाहे, या अपनी परम्पराओं के साथ जीना चाहे— उसे ऐसा करने की आज़ादी मिले। यह शायद एक बेहतर रास्ता हो सकता है। मैं आप सब लोगों का आभारी हूँ कि आप लोग यहाँ आये और आपने इस परिसंवाद में भाग लिया। मुझे यह उम्मीद है कि यह अनुसंधानकर्त्ताओं और आम पाठकों के लिए काफ़ी उपयोगी रहेगा। सबका बहुत-बहुत धन्यवाद!!